www.thearyasamaj.org

VISHVA–JYOTI R. N. NO. 1/57 ISSN 0505-7523
REGD. NO. PB-HSP-01
CURRENCY PERIOD: (1.1.2012 TO 31.12.2014)

६२, ७ अक्तूबर–2013

विश्वज्योति

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान

साधु आश्रम, होश्यारपुर

एक प्रति का मूल्य : १० रुपये

www.thearyasamaj.org

संस्थापक–सम्पादक :
स्व. पद्मभूषण आचार्य (डॉ.) विश्वबन्धु

सम्पादक:
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल
(सञ्चालक)

आदरी सह-सम्पादक :
प्रो. त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा

उप–सम्पादक :
डॉ. देवराज शर्मा

परामर्शक–मण्डल :

डॉ. दर्शनसिंह निर्वैर
होश्यारपुर

डॉ. (श्रीमती) कमल आनन्द
चण्डीगढ़

डॉ. जगदीशप्रसाद सेमवाल
होश्यारपुर

डॉ. (सुश्री) रेणू कपिला
पटियाला

शुल्क की दरें

आजीवन (भारत में)	:	१२०० रु.	आजीवन (विदेश में)	:	३०० डालर
वार्षिक (भारत में)	:	१०० रु.	वार्षिक (विदेश में)	:	३० डालर
सामान्य अङ्क (भारत में)	:	१० रु.	सामान्य अङ्क (विदेश में)	:	३ डालर
विशेषाङ्क (एक भाग भारत में)	:	२५ रु.	विशेषाङ्क (एक भाग विदेश में)	:	६ डालर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम,
होश्यारपुर–146 021 (पंजाब, भारत)

दूरभाष : कार्यालय : 01882-223581, 223582, 223606
सञ्चालक (निवास) : 01882-224750, प्रैस : 231353

E-mail : vvr_institute@yahoo.co.in
Website : www.vvrinstitute.com

www.thearyasamaj.org

विषय-सूची

लेखक	विषय	विधा	पृष्ठांक
श्री हरवंश लाल कपूर	सृष्टिरचना	कविता	2
डॉ. भवानीलाल भारतीय	भारत का प्रथम क्रान्तिकारी उपन्यास (महान् उपन्यासकार शरत्चन्द्र की बृहत्त्रयी की एक कृति)– पथ के दावेदार (पथेर दाबी)	लेख	3
डॉ. सुषमा देवी गुप्ता	वैदिक छन्दों का स्वरूप एवं महत्त्व	लेख	5
डॉ. (श्रीमती) शालिनी शुक्ला	वैदिक एवम् अवेस्तीय देवशास्त्र (तुलनात्मक अध्ययन)	लेख	10
डॉ. त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा	रघुवंश महाकाव्य में उद्धृत शिक्षा के महत्त्वपूर्ण सूत्र	लेख	13
श्री सीताराम गुप्ता	रेकी : एक सम्पूर्ण उपचारपद्धति	लेख	15
डॉ. सुव्रत मुनि जी महाराज	श्रमण-संस्कृति-एक अनुचिन्तन	लेख	22
डॉ. उषाकिरण	प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा	लेख	28
डॉ. जसवन्त राय सहगल	ममत्व, मातृत्व और सतर्कता	लेख	32
डॉ. (श्रीमती) ऋतुबाला	काव्यस्वरूप : (आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में)	लेख	35
श्री अजय कुमार	पौराणिक योग-परिभाषा विमर्श	लेख	38
(डॉ.) जगदीशप्रसाद सेमवाल	काव्यचमत्कार : (काव्यशास्त्रम्)	पुस्तक-समीक्षा	42
	विविध-समाचार		43
	संस्थान-समाचार		44
श्रीमती लता बंसल	आचार्य ऋषिराम प्रवचन-कर्मयोग		45

www.thearyasamaj.org

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

यजु. 40.7.

जिस अवस्था में ज्ञानवान् व्यक्ति के लिए सारा चर-अचर संसार आत्मस्वरूप हो जाता है। उस अवस्था में सब में एकत्व का दर्शन करने वाले मनुष्य को मोह और शोक कहां होता है? अर्थात् उसे उस अवस्था में मोह और शोक नहीं होता।

With best compliments from :

Sh. K. K. Sharma

29, Paxton Avenue,

Slough Berks,

SLI 2SX U. K.

www.thearyasamaj.org

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥

ऋ. 8.2.18.

पुरुषार्थ ही जीवन है। परमात्मा भी पुरुषार्थी की ही सहायता करता है। निष्क्रिय, अकर्मण्य और आलसी को परमात्मा और संसार नहीं चाहता। जो व्यक्ति पुरुषार्थी है, वह ही इस संसार में श्रेष्ठ आनन्द को प्राप्त करता है।

स्व. पूज्य पति

डॉ. एस. पी. चोढा जी

की

पावन स्मृति

में

प्रयोजिका :

श्रीमती उषा चोढा (धर्मपत्नी)

एफ-137, सरिता विहार, नई दिल्ली-110076

www.thearyasamaj.org

धीरानुत्साहसंपन्नान्स्वधर्मानवमानिनः।
देवता अभिरक्षन्ति पुष्णन्त्येषां च वाञ्छितम्॥

कथासरित्सागर – 12.5.119

धैर्यशाली, उत्साह से युक्त तथा अपने धर्म का पालन करने वाले व्यक्तियों की रक्षा देवता स्वयं करते हैं और उनकी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं।

स्व. श्रीमती अशर्फी देवी

(स्वर्गवास-मार्गशीर्ष शुक्लसप्तमी 2046 वि. सं.)

की

पुण्यस्मृति

में

सादर समर्पित

प्रयोजक :

श्री प्रभुदयाल बुधराम जिन्दल चैरिटेबल ट्रस्ट

कार्यालय-बुधराम एण्ड सन्ज़, 7, नई सब्जी मण्डी, होशियारपुर।

www.thearyasamaj.org

अर्थप्रदानमेवाहुः संसारे सुमहत्तपः।
अर्थदः प्राणदः प्रोक्तः प्राणा ह्यर्थेषु कीलिताः॥

कथासरित्सागर – 6.2.9

इस संसार में धन का दान सबसे बड़ा तप है। धन-दान को जीवन-दान कहा गया है, क्योंकि जीवन धन पर ही निर्भर है।

❋

स्व. हरिकृष्ण अग्रवाल

(स्वर्गवास-भाद्रपद कृष्ण नवमी सं. 2062 वि.)

की

पुण्यस्मृति

में

सादर समर्पित

प्रयोजक :

श्री प्रभुदयाल बुधराम जिन्दल चैरिटेबल ट्रस्ट

कार्यालय-बुधराम एण्ड सन्ज़, 7, नई सब्जी मण्डी, होशियारपुर।

www.thearyasamaj.org

विश्वज्योति

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात्॥ (ऋ. १,११३,१)

वर्ष ६२ होश्यारपुर, आश्विन २०७०; अक्तूबर २०१३ संख्या ७

अयुतोऽहमयुतो म आत्मा-
ऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रम्
अयुतो मे प्राणो ऽयुतो मे ऽपानो-
ऽयुतो मे व्यानो ऽयुतो ऽहं सर्वः॥
(अथर्व. 19. 51. 1)

(अयुतः) मैं अहीन हूँ। (आत्मा) ाा शरीर अहीन है। (चक्षुः) मेरी आंखें और मेरे (श्रोत्रम्) कान अहीन हैं। मेरे प्राण अपान और व्यान अहीन हैं। (अहं सर्वः) मैं सारे का सारा अहीन हूँ। (वेदसार-विश्वबन्धुः)

www.thearyasamaj.org

सृष्टिरचना

—श्री हरवंश लाल कपूर

सूर्य तेज से चन्द्र प्रकाशित—पृथ्वी का अन्धकार हरे।
संसार चन्द्र की शीतलता का—आदर और सत्कार करे॥

रवि सम तेज करे जो धारण—कौन उनसा शृंगार करे।
परम पवित्र पिता परमेश्वर—हर प्राणी को प्यार करे॥

वायु, जल, आकाश और अग्नि—सृष्टि रचना ओंकार करे।
कण कण में निर्बाध गति का—परमेश्वर संचार करे॥

यज्ञमय जीवन देकर ईश्वर—आत्मा का उपकार करे।
ज्ञानवान विद्वान तुम्हारा—वेद अमृत प्रचार करे॥

सबकी तृप्ति सुख समृद्धि—निर्मल जल रसधार करे।
अंदर बाहर की शुद्धताई—यज्ञ अग्निहोत्र उपचार करे॥

गायत्री मन्त्र से श्रेष्ठ मार्ग पर—चलने का संस्कार करे।
सत्य और न्यायशील उपासना—वैदिक धर्म आधार करे॥

शुभ कर्मों का अमृत फल दे—भव सागर से पार करे।
नम्र निवेदन करके देखे—क्षण में संकट ओम्कार हरे॥

— सहमन्त्री, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली—110001

www.thearyasamaj.org

भारत का प्रथम क्रान्तिकारी उपन्यास (महान् उपन्यासकार शरत्चन्द्र की बृहत्त्रयी की एक कृति)-

पथ के दावेदार (पथेर दाबी)

-डॉ. भवानीलाल भारतीय

प्राय: बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यास आनन्द-मठ को भारत का प्रथम राजनैतिक उपन्यास कहा जाता है। वस्तुत: आनन्दमठ राजनैतिक से अधिक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें मुसलमानी अत्याचारों से त्रस्त भारतमाता को मुक्त करने के लिए बंगाल में संन्यासियों द्वारा किए गए सशस्त्र प्रतिकार की कथा है। इस दृष्टि से इसे ऐतिहासिक घटनाप्रधान उपन्यास कहना अधिक उपयुक्त है। वस्तुत: शरतचन्द्र का लिखा **'पथ के दावेदार'** सही अर्थ में देश का प्रथम राजनैतिक उपन्यास है जिसमें पश्चिम की साम्राज्यवादी ताकतों का मूलोच्छेद करने के लिए सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान उन क्रान्तिकारियों के द्वारा किया गया जिनका नेता डॉ. सव्यसाची है, जो न केवल उच्चशिक्षित है अपितु जिसमें देश का शोषण करने वाली ताकतों को समूल नष्ट करने की प्रचण्ड ज्वाला सतत प्रज्वलित है। डॉ. सव्यसाची के अनुयायियों का जाल भारत से भिन्न पूर्वी ऐशियायी देशों में फैला हुआ है। चीन, जापान, मलेशिया, सिंगापुर तथा थाईलैंड आदि देश इस क्रान्तिकारी संगठन के अड्डे बने हुए हैं और ये क्रान्तिकारी स्वयं को पथ के दावेदार (पथेर दाबी) के नाम से पुकारते हैं।

तब यह जानना मनोरञ्जक होगा कि 'पथ के दावेदार' से लेखक का क्या अभिप्राय है? इस संगठन के अनुयायी स्वयं को अपना पथ चुनने में स्वतंत्र मानते हैं। जिस पथ के ये पथिक हैं वह साधारण मनुष्यों के रास्ते से भिन्न क्रान्ति व विद्रोह का ख़तरे भरा रास्ता है। इस संगठन के सदस्यों का कहना है कि मनुष्यत्व के मार्ग पर चलने का प्रत्येक को पूरा अधिकार है और किसी को उस रास्ते पर चलने से नहीं रोका जा सकता। कहा जा सकता है कि यह एक गोपनीय संगठन है जिसके सदस्यों में एक दूसरे की व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त करना निषिद्ध है। 'पथ के दावेदार' की अध्यक्षा सुमित्रा दीदी तो मानती है कि जो स्त्री अपने पति से प्रेम नहीं करती, उसे उसके दाम्पत्यबंधन से मुक्ति पा लेनी चाहिए और स्वयं को देशसेवा में लगा देना चाहिए। इस आन्दोलन को वे गरीबों की आत्मरक्षा की लड़ाई मानते हैं और खुद को दलितों व शोषितों का सबसे बड़ा शुभचिन्तक समझते हैं। यह विद्रोहियों का वह दल है जो रिवाल्वर के बल पर सामाजिक परिवर्तन लाने में विश्वास रखता है।

'पथ के दावेदारों' का कहना है कि व्यक्ति की स्वाधीनता का दावा करना और उसके लिए यत्न करना कानून की दृष्टि में राजद्रोह है। कांग्रेस के नरमदली नेताओं (फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले) की भांति प्रेयर, प्रोटेस्ट में इनका कोई विश्वास नहीं है। यहां तक कि इन विद्रोहियों को किसान आन्दोलन से भी कोई सहानुभूति नहीं है। वे स्वयं को सीधा मजदूर आन्दोलन से जोड़ते हैं।

'पथ के दावेदार' में कथा के सूत्र अत्यन्त विरल हैं। यदि आप कथारस की तलाश में इस

www.thearyasamaj.org

उपन्यास को पढ़ें तो आपको निराशा होगी। संक्षेप में कथा के तन्तुओं को इस प्रकार समन्वित किया जा सकता है। अपूर्व हाल्दार कुलीन माता-पिता की सन्तान, कुल-परम्पराओं के पालन में दृढ़ निष्ठा रखने वाला ऊँची आय के प्रलोभन में उस म्लेच्छ देश (बर्मा) के एक व्यावसायिक संस्थान में उच्च पद पर चला जाता है। रहने के लिए उसे जो मकान मिला है उसमें एक गोरा ईसाई भी पहले से रह रहा है जिसने किसी कुलीन ब्राह्मण विधवा को अपनी स्त्री के तौर रख लिया है। पूर्व में ब्राह्मणपति की पुत्री भारती अब ईसाई मत अपना कर जोजेफ भारती नाम से जानी जाती है। अपूर्व का खानपान, रहन-सहन में कट्टरपन पड़ौसी ईसाई परिवार से संघर्ष की स्थिति पैदा करता है।

इस बीच 'पथ के दावेदार' संगठन के थिंक टैंक डॉक्टर के नाम से प्रसिद्ध सव्यसाची के बंदरगाह पर उतरने की सूचना मिलने पर पुलिस का बड़ा अफसर बंदर की जैटी पर पहुँच जाता है। जहाज से उतरने वाले प्रत्येक मुसाफिर पर कड़ी नज़र रखी जाती है किन्तु गोपनीय वेश में उतरने वाला डॉ. सव्यसाची पुलिस के जासूस अफसरों की आंखों में धूल झोंक कर वहां से चलता बना। स्वयं को गिरीश महापात्र कहने वाले सव्यसाची को अद्‌भुत बानक में देख कर कौन कहेगा कि यही क्रान्तिकारियों का गुरु सव्यसाची है। अद्‌भुत अटपटी पोशाक पहने सव्यसाची के कुर्ते की जेब से जब लकड़ी का फुटरूल, कुछ बीड़ियां, दियासलाई और गांजे की चिलम बरामद हुई तो पुलिस अफसर निमाई बाबू ने सहज भाव से पूछा- 'तुम गांजा पीते हो।' उत्तर मिला- 'जी नहीं।' तब पूछा, 'फिर यह चीज़ (चिलम) जेब में क्यों है?' उत्तर- 'रास्ते में पड़ी थी, उठा ली, किसी के काम आयेगी।' प्रच्छन्न वेशधारी इस क्रान्तिकारी की इस सफाई को सुन कर पुलिस अफसर को कहना पड़ा- 'कितने परोपकारी व्यक्ति हैं। किसी के काम आ जाये, यही सोचकर अपनी जेब में गांजे की चिलम को लिए फिरते हैं।'

डॉ. सव्यसाची के अद्‌भुत व्यक्तित्व की यह तो प्रथम झांकी है। किन्तु उनके गहन गम्भीर चिन्तन, क्रान्तिकारी विचारधारा तथा साम्राज्य-वादी ताकतों के प्रति उनकी अशेष घृणा तथा इन ताकतों को निर्मूल कर देने की उनकी बलवती इच्छा उपन्यास के प्रत्येक पृष्ठ पर अवतरित हुई है। उनके विस्तृत अध्ययन तथा विशाल ज्ञानराशि के बारे में भारती का कहना है- संसार में जो कुछ भी जान लेना सम्भव है वे सब कुछ जानते हैं। उनके लिए अज्ञान या असाध्य कुछ भी नहीं है। ऐसा नहीं कि हिंसा का मार्ग अपनाने वाले सव्यसाची ने मानव की कोमल भावनाओं से सदा-सदा के लिए रिश्ता तोड़ दिया है। अपूर्व द्वारा सरकार को क्रान्तिकारियों का भेद दे देने के घोर अपराध के दण्डरूप में जब पथ के दावेदारों की समिति उसे मृत्युदण्ड देने का निर्णय करती है तो इस भोले किन्तु नादान युवक को मौत से बचाने में डॉ. सव्यसाची ही पहल करता है। उसका कहना है-

"भावुकता नाम की वस्तु सदा बुरी नहीं होती। मातृभूमि के परित्राण के लिए सर्वतोभावेन समर्पित सव्यसाची व्यक्तिशः प्रस्तर भूमि की भांति कठोर हैं किन्तु इस पत्थर की मूर्ति के भीतर जन्मभूमि का वास है और इसी देशप्रेम के कारण उन्होंने यह कंटकाकीर्ण रास्ता चुना है।"

-3/5, शंकर कालोनी, श्रीगंगानगर

www.thearyasamaj.org

वैदिक छन्दों का स्वरूप एवं महत्त्व

–डॉ. सुषमा देवी गुप्ता

"छन्द" शब्द "छद्" धातु में "असन्" प्रत्यय लगाने से बना है। "छद्" धातु का अर्थ है– प्रसन्न करना, आच्छादित करना, बांधना आदि। प्राचीन आचार्यों ने "छन्द" के दो अर्थ माने हैं, एक तो आच्छादन तथा दूसरा आह्लादन। व्याकरण शास्त्र के अनुसार "छन्द" शब्द की कई प्रकार से निष्पत्ति की जा सकती है। रुचिकर एवं श्रुतिप्रिय लयबद्ध वाणी ही छन्द है: "छन्दयति पृणाति रोचते इति छन्द:।" जिस वाणी को सुनते ही मन आह्लादित हो जाता है, वह छन्दमयी वाणी ही वेद है: "छन्दयति आह्लादयति छन्द्यन्तेऽनेन वा छन्द:"।

'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति का यह एक पक्ष या उद्देश्य हुआ। किन्तु वेदमन्त्रों के लिए उसका दूसरा भी पक्ष है, जो पहले उद्देश्य की अपेक्षा अधिक सारवान् प्रतीत होता है।

क्षीरस्वामी ने 'छन्द' एवं 'छन्दस्' पदों की निरुक्ति 'छद्' धातु से कही है। छन्दोमीमांसा के अनुसार 'छन्द' शब्द छदिर ऊर्जने, छदि संवरणे, छदि आह्लादने दीप्तौ च, छद् संवरणे, छद अपवारणे, धातुओं से निष्पन्न है।[1] यास्क ने 'छन्दांसि छादनात्' कह कर आच्छादन के अर्थ में प्रयुक्त छन्द शब्द का अस्तित्व माना है।[2] सायण ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में 'आच्छादकत्वाच्छन्द:' कथन द्वारा यास्क का समर्थन किया है।[3] छान्दोग्योपनिषद की एक गाथा के अनुसार देव मृत्यु से डर कर त्रयी-विद्या में प्रविष्ट हुए। वे छन्दों से आच्छादित हो गये। आच्छादन करने से ही छन्दों का छन्दत्व है।[4] ऐतरेय आरण्यक के अनुसार स्तोता को आच्छादित करके छंद पापकर्मों से रक्षित करते हैं।[5]

स्वरूप:–

षड् वेदांगों में 'छन्द' पञ्चम स्थान पर आता है। संस्कृत-साहित्य में विविध छन्दों के निर्माण एवं प्रयोग के लिए एक स्वतन्त्र छन्दशास्त्र की रचना स्वाभाविक थी। ब्राह्मणग्रन्थों में एवं शांखायनश्रौतसूत्र, निदानसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य तथा कात्यायन की अनुक्रमणियों में वैदिक साहित्य में प्रयुक्त छन्दों के स्वरूप का विश्लेषण हुआ है। छन्दों का यह विकास लौकिक संस्कृत-साहित्य तक चलता रहा। इस काल में आकर छन्द दो प्रकार के बन जाते हैं– वृत्त तथा जाति।

1. वैदिक छन्दोमीमांसा, पृष्ठ 11-13.
2. निरुक्त, 7/12.
3. वृत्तमौक्तिक, पृष्ठ-1
4. छान्दोग्योपनिषद, 1/4/2.
5. ऐतरेय आरण्यक, 2/2.

www.thearyasamaj.org

वृत्त-छन्दों में छन्दो-विचार तीन अक्षरों के गणों द्वारा किया जाता है तथा जाति-छन्दों में मात्राओं को आधार माना जाता है। वैदिक छन्द 'महाभारत' तक चलते आये हैं। वैदिककालीन 'अनुष्टुभ्' लौकिक साहित्य में 'श्लोक' बन जाता है। वैदिक छन्दों में से छन्द की परिभाषा करते हुए कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में अक्षर के परिमाण को छन्द कहा है- 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः।' अन्यत्र अक्षर-संख्या का नियामक छंद कहा गया है।[6]

वैदिक छंद मंत्रों के अर्थ प्रकट करने की विशेष शैली प्रक्रिया के द्योतक हैं। वेदों के व्याख्याकारों ने इस बात पर बल दिया है कि ऋषि, देवता और छन्द के ज्ञान के बिना मन्त्रों के अर्थ उद्भासित नहीं होते। देवता मंत्रों के विषय हैं, ऋषि वे सूत्र हैं जिनसे अर्थ सरलतया प्रकट हो जाते हैं तथा छन्द अर्थप्राप्ति की प्रक्रिया का नाम है।[7] छन्दों की अर्थ प्रकट करने की विशिष्ट प्रक्रिया के कारण ही वैदिक-शैली को 'छान्दस' कहा गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में छन्दों के नामों द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न किया गया है। व्यावहारिक परिभाषा के अनुसार छन्द अक्षरों के मर्यादित प्रक्रम का नाम है। जहां छन्द होता है वहां मर्यादा आ जाती है।[8] भावों का एकत्र-संवहन, प्रकाशन तथा आह्लादन छन्द के मुख्य लक्षण हैं। इस दृष्टि से भी रुचिकर एवं श्रुतिप्रिय लययुक्त वाणी ही छन्द कही जाती है।[9] जिस वाणी को सुनते ही मन आह्लादित हो जाता है वह वाणी ही छन्द है।[10]

वैदिक-काल से उत्तरवर्ती साहित्य में छन्दोविषयक सर्वप्राचीन ग्रन्थ 'छन्दः सूत्र' पिङ्गल अथवा पिङ्गलनाग की रचना है। इसमें लौकिक एवं वैदक साहित्य में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन है। एक प्रकार से षड्वेदाङ्गों में से पञ्चम वेदाङ्ग 'छन्द' का प्रतिनिधित्व पिङ्गल प्रणीत छन्दःसूत्र ही करता है। यह ग्रन्थ सूत्रशैली में लिखा गया है। इसमें ताण्डी, क्रौष्टुकि, यास्क, सैतव,काश्यप,शाकल्य, रात एवं माण्डव्य इत्यादि प्राचीन आचार्यों का नामोल्लेख मिलता है;किन्तु उनके छन्दः शास्त्रीय ग्रन्थों का विवरण प्राप्त नहीं।

वैदिक छन्दों में अक्षरों के गौरव-लाघव पर ध्यान न देकर उनकी संख्या का ही विचार किया जाता है। कभी-कभी अन्य पादों के अक्षरों के समसंख्यक होने पर भी एक पाद में कभी संख्या कम हो जाती है तथा कभी अधिक। यह मनमानी अनियमित नहीं है, अपितु नियम से ही किया जाता है। एक या दो अक्षरों की अधिकता अथवा न्यूनता से छन्द परिवर्तित नहीं होता। इससे उसके

---

6. अथर्ववेदीयबृहत्सर्वानुक्रमणी।
7. वेदवाणी; बनारस, 15/1.
8. वेदविद्या-डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ-102.
9. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-110.
10. 'छंदयति आह्लादयति छंद्यते अनेन इति छन्दः।' संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-110.

www.thearyasamaj.org

स्वरूप की हानि भी नहीं होती। यदि किसी छन्द के अक्षर एक कम हो तो उसे 'निचृत्' तथा एक अधिक हो, तो उसे 'भूरिक्' विशेषण लगाते हैं। नियमत: त्रिपदा अष्टाक्षरा गायत्री के अक्षरों की संख्या (8×3) 24 ही है, परन्तु 23 अक्षरों की गायत्री 'निचृत्गायत्री' और 25 अक्षरों की 'भूरिग्गायत्री' कही जाती है। इसी प्रकार दो अक्षरों की हीनता वाले छन्दों को 'विराट्' तथा दो अक्षरों की अधिकता होने पर छन्द को 'स्वराट्' कहते हैं। इस प्रकार 'विराट्-गायत्री' (24-2) 22 अक्षरों की एवं 'स्वराट् गायत्री' (24+2) 26 अक्षरों की होती है।[11]

भारतीय आचार्यों के मतानुसार वैदिक छन्दों के स्वरूप-निर्धारण में इस बात का विशेष महत्त्व नहीं है कि उसमें कौन अक्षर लघु है तथा कौन अक्षर गुरू है, परन्तु आचार्य शौनक ने 'ऋक्प्रातिशाख्य'[12] में इस विषय का विचार किया है। उनका महत्त्वपूर्ण कथन है कि आठ अक्षर के पाद (गायत्र) में एवं बारह अक्षर के पाद (जागत) में उपोत्तम अर्थात् अन्तिम से पहला अक्षर लघु होता है। दस अक्षर के पाद (वैराज) में एवं ग्यारह अक्षर के पाद (त्रैष्टुभ) में उपोत्तम अक्षर गुरू होता है। इसे वृत्त की संज्ञा दी गई है। शौनक का यह कथन ऋग्वेदीय छन्दों में सुसंगत होता है।

प्रत्येक संहिता के छन्दों के स्वरूप का वर्णन अनुक्रमणियों में बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है। कात्यायन ने ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के छन्दों के स्वरूप का निर्देश 'सर्वानुक्रमणी' में बड़ी प्रामाणिकता से किया है। प्रातिशाख्यों में, विशेषत: ऋक्प्रातिशाख्य में छन्दस् का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।[13] पिङ्गल के ग्रन्थ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का विशेष वर्णन है।

कभी-कभी देखने में आता है कि छन्द एक अक्षर के अभाव में त्रुटित जान पड़ता है। उस छन्द को नियमबद्ध बनाने के अभिप्राय से एक अक्षर को दो अक्षर बना देने की अवस्था 'सर्वानुक्रमणी'[14] में स्पष्ट है – जिसका पारिभाषिक शब्द 'व्यूहन' है। वैदिक छन्दों की संख्या 26 मानी गई है। छन्दों में गायत्री प्रथम छन्द है। जिसके प्रत्येक पाद में 6 अक्षर होते हैं। प्रथम सप्तक इसीलिए गायत्री से आरम्भ होता है। इससे पूर्व के पांच छन्द 'गायत्री-पूर्व-पञ्चक' के नाम से विख्यात हैं। इनका नाम इस प्रकार है-:

गायत्री पूर्वक पञ्चक छन्दों का नाम-मा (अक्षर संख्या 4), प्रमा (अक्षर संख्या 8), प्रतिमा (अक्षर संख्या 12), उपमा (अक्षर संख्या 16), समा (अक्षर संख्या 30)।[15] अन्य ग्रन्थों में इनसे भिन्न नाम दिये गये हैं। यथा भरतनाट्यशास्त्र[16] में इन्हें क्रमशः उक्त, अत्युक्त, मध्यम,

11. सर्वानुक्रमणी, पृष्ठ-2, ऋक्प्रातिशाख्य, 17/2.
12. ऋक्प्रातिशाख्य, 17/39.
13. ऋक्प्रातिशाख्य, पटल-16/18.
14. सर्वानुक्रमणी, 3-6.
15. ऋक्प्रातिशाख्य, 17/17.
16. नाट्यशास्त्र, अध्याय-14, श्लोक-48.

www.thearyasamaj.org

प्रतिष्ठा एवं सुप्रतिष्ठा के नाम से पुकारा गया है। शेष 21 (इक्कीस) छन्दों को तीन सप्तकों में विभक्त किया गया है यथा–:

1. प्रथम सप्तक के सातों छन्दों के नाम सर्वत्र एकसमान हैं। उनके नाम हैं – 1. गायत्री= 24 अक्षर, 2. उष्णिक् = 28 अक्षर, 3. अनुष्टुप्= 32 अक्षर, 4. बृहती = 36 अक्षर, 5. पंक्ति=40 अक्षर, 6. त्रिष्टुप् = 44 अक्षर तथा 7. जगती= 48 अक्षर।
2. द्वितीय सप्तक के सातों छन्द 'अतिछन्द' के नाम से प्रख्यात हैं। इनकी अक्षर संख्या पूर्व की अपेक्षा चार अधिक होती है। यथा –

   1. अतिजगती= 52 अक्षर, 2. शक्वरी= 56 अक्षर, 3. अतिशक्वरी = 60 अक्षर, 4. अष्टी=64 अक्षर, 5. अत्यष्टि=68 अक्षर, 6. धृति = 72 अक्षर तथा 7. अतिधृति= 76 अक्षर।
3. तृतीय सप्तक के सातों छन्दों के नाम इस प्रकार हैं :–1. कृति= 80 अक्षर, 2. प्रकृति= 84 अक्षर, 3. आकृति = 88 अक्षर, 4. विकृति = 92 अक्षर, 5. संस्कृति= 96 अक्षर, 6. अभिकृति= 100 अक्षर तथा 7. उत्कृति= 104 अक्षर।

इन तीनों सप्तकों के भिन्न-भिन्न नाम भी मिलते हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र[17] में इनका नाम क्रमशः दिव्य, दिव्येतर एवं दिव्य-मानुष दिया है। अभिनवगुप्त ने इस नामकरण के कारण का संकेत अपनी अभिनव-भारती में किया है। उनके अनुसार प्रथम सप्तक के छन्दों का प्रयोग देवों की स्तुति के अवसर पर किया जाता है। इसलिए इन्हें दिव्यनाम्ना पुकारते हैं। मनुष्य सम्बन्धी स्तुतियों में बहुशः प्रयुक्त होने के कारण द्वितीय सप्तक दिव्येतर अर्थात् मानव नाम से प्रसिद्ध है। दिव्य तथा मनुष्य उभय प्रकार के व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होने के कारण तृतीय सप्तक दिव्यमानुष के नाम से प्रख्यात है।[18]

महत्त्व –:

वैदिक वाङ्मय में छन्दों का विशिष्ट महत्त्व है। छन्द वेद के छः अङ्गों में एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। छन्द वेद के चरण हैं।[19] वेद के मन्त्रों के उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान बहुत ही आवश्यक है। छन्दों का ज्ञान हुए बिना मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ ठीक ढंग से नहीं हो सकता। प्रत्येक सूक्त में देवता, ऋषि एवं छन्द का ज्ञान आवश्यक माना जाता है। कात्यायन का यह स्पष्ट कथन है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन, अध्यापन, यजन एवं याजन करता है उसका यह प्रत्येक कार्य निष्फल हो जाता है।[20]

---

17. नाट्यशास्त्र, अध्याय-14, श्लोक 108.
18. नाट्यशास्त्र, अध्याय-14, श्लोक-109/ 110/ 111.
19. 'छन्दः पादौ तु वेदस्य', पाणिनीयशिक्षा, सूत्र-41.
20. सर्वानुक्रमणी, 1/1.

www.thearyasamaj.org

लौकिक काव्यों में छन्द तथा पादबद्धता का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि पद्यों में ही छन्दों की योजना मानी जाती है तथा गद्य छन्द से सर्वथा विरहित स्वीकार किया जाता है। परन्तु वैदिक छन्द के विषय में ऐसा नहीं है। प्राचीन आर्ष-परम्परा के अनुसार गद्य भी छन्दोयुक्त माने जाते हैं क्योंकि बिना छन्द के वाणी उच्चरित नहीं होती।[21] कात्यायन के अनुसार सारा वाङ्मय छन्दोरूप है-'छन्दोमूलमिदं सर्वं वाङ्मयम्।'[22] भरतमुनि भी नाट्यशास्त्र में छन्द से विरहित शब्द स्वीकार नहीं करते क्योंकि छन्द से रहित कोई शब्द भी नहीं होता तथा शब्द से रहित कोई छन्द भी नहीं होता।[23] कात्यायन मुनि के नाम से प्रख्यात ऋग्यजुषपरिशिष्ट पूर्वोक्त तथ्य की स्वीकृति इस प्रकार से देता है-:

छन्दोभूतमिदं सर्वं वाङ्मयं स्याद् विजानतः।
नाच्छन्दसि न चापृष्टे शब्दश्चरति कश्चन॥

उपर्युक्त उद्धृत मतों के अनुसार वेद का ऐसा कोई भी मन्त्र नहीं है जो छन्द के माध्यम से निर्मित नहीं है। सम्पूर्ण वाङ्मय छन्दों से युक्त है और छन्द के बिना कुछ भी नहीं है। जिससे स्पष्ट होता है कि गद्य भी छन्दोबद्ध होते हैं। अतः यजुर्वेद के मन्त्र भी जो निश्चयेन गद्यात्मक हैं छन्दों से रहित नहीं हैं। इसीलिए गद्य एवं पद्य दोनों को छन्दोयुक्त माना जाता है।[24] यही कारण है कि पतञ्जलि, शौनक एवं कात्यायन आदि आचार्यों ने एक अक्षर से लेकर 104 अक्षर तक के छन्दों का विधान अपने-अपने ग्रन्थों में किया है।[25]

-रीडर, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

---

21. निरुक्त, 7/2, दुर्गवृत्ति।
22. ऋग्यजुषपरिशिष्ट-5, छन्दोऽनुशासन, 1/2.
23. नाट्यशास्त्र, अध्याय-14, श्लोक-47.
24. वैदिकछन्दोमीमांसा, पृष्ठ-8.
25. वैदिकछन्दोमीमांसा, पृष्ठ, 8-9.

www.thearyasamaj.org

वैदिक एवम् अवेस्तीय देवशास्त्र (तुलनात्मक अध्ययन)

–डॉ. (श्रीमती) शालिनी शुक्ला

भारतीय संस्कृति के मूल आधार वेद हैं। भारतीय संस्कृति की आत्मा को जानने एवं धर्म की विस्तृत व्याख्या के लिए वेदों के अध्ययन की आवश्यकता है। धर्म या कर्मकाण्ड अथवा देवताओं का वास्तविक स्वरूप वेदों के ही माध्यम से निर्धारित किया जाये तो वह भी अपूर्ण एवं एकांगी होगा, क्योंकि तत्कालीन भारतीय-ईरानी संस्कृतियाँ एवम् उनके ग्रन्थ वेद एवम् अवेस्ता एक दूसरे से सम्बद्ध थे। भारतीय धर्म, दर्शन, भाषा विज्ञान एवं पुराकथाओं के अध्ययन में अवेस्ता सत्य के अधिक निकट ले जाकर चिन्तन को एक समग्रता प्रदान करता है। अत: देवसमूहों का तुलनात्मक अध्ययन सत्यान्वेषण में परमावश्यक है।

वेदों में देव शब्द का अर्थ प्रकाशक, दिव्य, द्युतिमान् तथा ईश्वर आंग्ल 'Deity' है जबकि अवेस्ता में देव के लिए प्रयुक्त 'दएव' शब्द राक्षस, दुरात्मा आंग्ल Demon, Devil का बोधक है। नैतिक विचारों में अन्तर के कारण आर्यों की देव एवम् असुरपूजक दो शाखायें हो गयीं। वैदिक देवता भौतिक घटनाओं एवं प्रकृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। निरुक्त में सविस्तार देवताओं का पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युस्थान में वर्गीकरण है। इन तीनों वर्गों का प्रमुख अग्नि, इन्द्र एवं सूर्य है। इन देवताओं के अतिरिक्त वरुण, बृहस्पति, उषस्, पूषन्, सवितृ, मित्र, वायु, सोम, अश्विनौ, पर्जन्य, अपांनपात्, मित्रावरुणौ, पृथिवी आदि प्रमुख देवता हैं।

अवेस्ता में यजत का वही स्थान है जो वेदों में देवताओं का। अवेस्ता में मानवेतर दिव्य-शक्तियों को जो पूजा योग्य हों, यजत कहा गया है। यजतों में प्रमुख सात यजत हैं, इनमें अहुरमज्दा प्रमुखतम एवं सृष्टिकर्ता हैं। इनके सहयोगी हैं। वोहुमनह, अशविहिश्त्, हउर्वतात्, अमरॅतात्, क्षथवइर्य, स्पॅन्ता आर्मइति। इन सप्त यजतों के अतिरिक्त द्वितीय वर्ग में अॅरॅद्धी, मिथ्र, ह्वरॅक्षएथ, अषि, माद्, रश्नु, वॅरॅथ्रघ्न आदि हैं। तृतीय वर्ग के यजतों के दह्मा, आफिति, परॅस्ति आदि प्रमुख हैं। प्रत्येक यजत वीदएव अर्थात् देवविरोधी एवं सत्यरक्षक है। कुछ वैदिक एवम् अवेस्तीय देवताओं का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है–

अग्नि–

आर्य अग्निपूजक थे अत: वेद और अवेस्ता में अग्नि को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पार्थिव देवताओं में अग्नि के महत्त्व का अनुमान 200 सूक्तों में उसकी स्तुति एवं अनेक सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ आह्वान से लगाया जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण[1] में अग्नि को देवताओं में प्रथम एवं वसिष्ठ कहा गया है।

1. ऐतरेय ब्राह्मण, 1/1., ऐ. ब्रा., 1/28.

www.thearyasamaj.org

अग्नि उत्पन्न करने के लिए घर्षण की आवश्यकता होती है। सम्भवत: इसीलिए अग्नि को 'सहस:सूनु:' कहा गया है। कहीं कहीं द्यौस् को अग्नि का पिता बनाया गया है। अधिकांशत: अरणि को ही अग्नि की माता कहा गया है। अग्नि को पृथिवी का भी पुत्र कहा गया है। वैदिक अग्नि अथवा अथर अवेस्तरीय '**आतर**' है। अवेस्ता में अग्निस्थान के लिए '**दाइत्य गातु**' अर्थात् विधिसम्मत स्थान शब्द प्रयुक्त हुआ है। ईरान में देवता अग्नि के लिए मन्दिर भी बनाये गये। अवेस्ता[2] में आतर् को असुर-मेघिर का पुत्र कहा गया है। अर्मश स्पॅन्त का उद्‌भव '**आतर्**' से हुआ। आतर् ऋतसम्बद्ध है। आतर् के पाँच रूप हैं। बॅरजि सव अर्थात् बृहदाग्नि, बोहु फ्रयन 'मानव शरीरगताग्नि, वाज़िश्त 'वैद्युताग्नि', स्पेनिश्त, स्वर्गाग्नि। पञ्चाग्नि का वर्णन संस्कृत साहित्य में भी हुआ है। ये हैं-दक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य एवम् आवसथ्या अग्नि ख़्वरॅमह् अर्थात् स्वर्णस् है। वेदों में भी अग्नि को प्रकाशक, स्वर्णिम वर्ण वाला, सवर्णिमा केशों एवं मूछों वाला कहा गया है।

सोम–

ऋग्वेद एवम् अथर्ववेद में सोम को अत्यन्त महत्व दिया गया है। इसी कारण वृक्षलतारूप सोम देवरूप में स्तुत है। अथर्ववेद में सोम के औषधीय प्रयोग का वर्णन है। ऋग्वेद का नवम मण्डल एवम् अन्य मण्डलों के छ: सूक्तों में सोम का स्वतन्त्र रूप से तथा कुछ सूक्तों में सोम का अन्य देवताओं के साथ सम्मिलित आह्वान है। वेदों में सोम को हरितवर्ण कहा गया है। सोम के लिए 'त्र्यशिर:' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। त्र्यशिर: से अभिप्राय है- गवाशिर: (दुग्धमिश्रित) दध्याशिर: (दधिमिश्रित), यवाशिर: (यव-मिश्रित) सोम। सोम शीतल, मादक एवं शक्तिवर्द्धक है।

अवेस्ता में सोम के लिए 'हओम' शब्द आया है। नवम दशम तथा एकादशयस्न में सोमोपासना है। यहाँ भी सोम को हरितवर्ण एवं पर्वतों में प्राप्त होने वाला कहा गया है। अवेस्ता[3] दशम यस्न में सोम को वर्ण से हरा, पर्वत में उत्पन्न, वर्षाजन्य एवं मेध द्वारा सिंचत कहा गया है। सोम को बएषज्य अर्थात् भैषज्य कहा गया है। इसके औषधीय गुण वेदों में भी वर्णित हैं। अभिषुत सोम में गोदुग्ध का मिश्रण होता था। अवेस्ता में इसको 'गवा इरिरतहे' कहा गया है जबकि वेदों में इसके लिए 'गवाशिर:' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सोम देवरूप है। पह्लवी सन्दर्भ में यह सतवेसू, फ्रवशिश, दीन, वात् और बूर्ज के साथ स्तुत है। जरथुष्ट ने सोम से दीर्घजीवन की प्रार्थना की थी। सोम को दामिधात् एवं मज़्दों हुरीश्म अर्थात् बुद्धिदायक कहा गया है। शक्ति के लिए तथा वृत्र वध के लिए सोम की कामना की गयी है। (यस्न 9.23)। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि सोमपान से तृप्त इन्द्र ने वृत्र को मारा (ऋ. 5.29.2)।

2. अवेस्ता। यस्न, 2. 11.

3. "स्तओमि मेघम्च वारम्च या ते कॅहरपॅम् वक्षयतो बरॅष्नुश पइति गईरिनॉम्" अवेस्ता। यस्न, 10.3.

www.thearyasamaj.org

वायु–

ऋग्वेद में स्वतन्त्ररूप से वायु का अत्यल्प वर्णन है। अधिकांश मन्त्रों में इन्द्र के साथ वायु का सम्मिलित आह्वान है। वात का ऋग्वेद के दशम मण्डल के दो सूक्तों में आह्वान है। वायु अमर जीवन प्रदान करने वाला, प्रकाश उत्पन्न करने वाला और उषस् को प्रकाशित करने वाला है। वा **'बहना'** यद्वा वी **'बहना'** से वायु पद निष्पन्न है। अवेस्ता में वायु के लिए **'वयु'** शब्द तथा आंग्ल में इसे 'Wind' कहा गया है। वायु को समर्पित यस्न का नाम रामह्वाश्र है। वयु, असुर, यिम, हुतओसा अनेक जनों द्वारा पूजित है। वयु उखु, **'उग्र'** दॅरज **'द्रढ़'**, बुख्ति **'शब्द करने वाला'** है। वयु अकल्याणकारी, दुरात्मा भी है। अन्तरिक्षवर्ती वायु को 'वयह' कहा गया है। यह सुन्दर एवं कल्याणकारी है जबकि निम्नवर्ती वयु अमङ्गलकारी एवं दुरात्मा है।

वेदों एवम् अवेस्ता में अपांनपात् जलसम्बन्धी देवता हैं। इसके नाम से स्पष्ट है कि यह जलपुत्र है। यह पृथिवी की उर्वरता में वृद्धि करने वाला है। इसके लिए ऋग्वेद में **'आशु हेमन्'** तीव्रगामी शब्द प्रयुक्त हुआ है। अवेस्ता में इसे मिथ्र एवम् आतर् से सम्बद्ध माना गया है। यह मेघाच्छादित विद्युत भी है। अवेस्ता में इसे बॅरजन्त् **'वृहन्तम'**, **'श्र्थ्य'** **'राजकीय'**, अर्शन, **'वृषन्'** कहा गया है।

रुद्र–

अवेस्तीय स्पॅन्त मइन्यु एवम् अङ्रोमइन्यु में वैदिक रुद्र की विशेषतायें समाहित हैं। ऋग्वेद में रुद्र को मळ्हुष् अर्थात् कल्याणकारी एवं औषधिप्रद कहा गया है। रुद्र का उग्र रूप भी वेदों में वर्णित है। कौषीतकि ब्राह्मण[4] में रुद्र को **'घोर'** कहा गया है। वस्तुतः अवेस्तीय स्पॅन्त मइन्यु शिव है। शिव कल्याणकारी होना से शिव शब्द बना है, शिव का अवेस्ता में स्पन् होकर स्पॅन्त शब्द बना है जिसका अर्थ कल्याणकारी एवं पवित्र है। स्पॅन्त महन्यु तथा आतर् तथा आतर् की सहायता से ऋतावा असुर को प्राप्त करता है। जरथुष्ट्र ने अङ्रों मइन्यु को पृथिवी से भागने के लिए बाध्य किया क्योंकि वह दुज्दा अर्थात् दुष्ट एवं पोउमह्रक अर्थात् अतिमारक था।

इन देवताओं के अतिरिक्त वैदिक मित्र= अवेस्तीय मिथ्र/वरुण = अवेस्तीय, अहुर/ वृत्र= अवेस्तीय वरॅथ्र/ इन्द्र = अवेस्तीय इन्दर है। इसी प्रकार अन्य अनेक वैदिक एवम् अवेस्तीय देवी-देवताओं में चारित्रिक साम्य एवं विषमता है।

वैदिक एवम् अवेस्तीय देवताओं का तुलनात्मक अध्ययन देवशास्त्र विषयक अध्ययन को समग्रता प्रदान करता है। इसी प्रकार वैदिक एवं अवेस्तीय धर्म, उपासना पद्धति में भी अत्यधिक समानता है। वर्तमान समय में वेद एवम् अवेस्ता का गहन अध्ययन पुनःस्थापित कर उनकी ग्राह्यता बढ़ाने की आवश्यकता है।

–एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोटद्वार (उत्तराखंड)

---

4. "घोरों वै रुद्रः"। कौषीतकिब्राह्मण, 16/7.

www.thearyasamaj.org

रघुवंश महाकाव्य में उद्धृत शिक्षा के महत्त्वपूर्ण सूत्र

–डॉ. त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा

महाकवि कालिदास ने किसी शिक्षण-संस्था में अध्ययन भले ही न किया हो, पर शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने जो अपने विचार रखे हैं, उनसे उनकी इस राष्ट्रिय समस्या के प्रति सजगता का संकेत मिलता है। शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए महाकवि कहते हैं कि कोरे पुस्तकीय ज्ञान को प्राप्त कर लेना अपने में कोई अर्थ नहीं रखता। विद्या-अर्जन के पश्चात् सतत अभ्यास की भी आवश्यकता होती है– **'विद्यामभ्यसनेन'** (रघु. 1.88)। रघुवंश महाकाव्य में शिक्षा के प्रसंग में जो कुछ भी कहा गया है, वह मौलिक है और आज की शिक्षा-समस्याओं के समाधान के निमित्त मूल्यवान् सूत्रों को उपस्थित करता है।

पहले की अपेक्षा आज शिक्षा का प्रसार बहुत अधिक है, पद-पद पर शिक्षालय उपलब्ध हैं। पर, फिर भी शिक्षा अपने लक्ष्य से बहुत दूर है। शिक्षा का लक्ष्य है व्यक्ति का परिष्कार, जिसके द्वारा मानव से देवत्व का आधान होता है, किन्तु आज की शिक्षा इससे विपरीत है। रघुवंश में इसका समाधान प्राप्त होता है–संस्कारों में। संस्कार किए जाने पर विष भी औषध बन जाता है। भारतीयों के सोलह संस्कार शिक्षा की पूर्णता के ही साधन थे। इसीलिए कालिदास ने रघु का चित्रण करते हुए लिखा है कि चूडाकर्म संस्कार के अनन्तर जब उन्होंने लिपि को ग्रहण किया अथवा लिखना प्रारम्भ किया–तब उनका वाङ्मय में अनायास ही प्रवेश हो गया, जैसे जल का नदी के मुहाने से समुद्र में प्रवेश हो जाता है–

सवृत्तचूलश्चलकाकपक्षकै-
रमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं
नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥ (3. 28)

उपनयन संस्कार हो जाने के पश्चात् गुरुजनों के प्रिय रघु को गुरुजनों ने शिक्षा प्रदान की और उनके प्रयास के कारण सफलता से रघु मण्डित हुए क्योंकि पात्र को दी गई शिक्षा सफल होती है–

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो
विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते
क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥
(3.29)

यहां पर यह बतलाया गया है कि यद्यपि रघु सहज ही गुरुजनों को प्रिय थे, पर फिर भी उन्होंने उपनयन संस्कार के पश्चात् ही उसे शिक्षा दी। दूसरी बात यहां पर यह बतलाई गई है कि पात्र को दी गई शिक्षा ही सफल होती है। रघुवंशीय शिक्षा की तीसरी विशेषता है–विनम्रता। इस विनम्रता ने ही रघु को गुरुजनों का सहज प्रियपात्र बनाया था। विनय की शिक्षा तो अंगुली पकड़ कर चलने की अवस्था से ही मिलने लगती है। इसीलिए लिखा है–

ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलि-
मभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया॥
(3.25)

रघु की यह नम्रता सदा एकरस रही, तभी तो कवि ने लिखा है कि युवक रघु यद्यपि शरीर से अपने पिता से बढ़ गए थे, फिर भी विनयशीलता के कारण वे नीचे झुके हुए लगते थे–

वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघु-
स्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत॥
(3. 34)

www.thearyasamaj.org

कवि की दृष्टि में विनयशीलता दो प्रकार की होती है– एक सहज और दूसरी संस्कारजन्य। रघु में दोनों ही प्रकार की विनम्रता थी–

निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ।

(3. 35)

कवि लिखते हैं कि उदारमना रघु ने बुद्धि की तीक्ष्णता के कारण त्रयी, आन्वीक्षिकी आदि चारों विद्याओं को यों पा लिया था, जैसे सूर्य वायु से भी अधिक वेगवान् अपने घोड़ों के सहारे चार समुद्रों जैसी अपार चारों दिशाओं को पार कर लेते हैं–

धियैः समग्रैः स गुणैरुदारधीः
क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो
हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥

(3. 30)

इस पद्य में संकेतित बुद्धि के सात गुण हैं– गुरुजनों की सेवा, उनके मुखारविन्द से सुनना, सुने हुए ज्ञान को ग्रहण करना, उसे धारण करना, तर्क–वितर्क, अर्थज्ञान और तत्त्व तक पहुँचना।

रघु ने आन्वीक्षिकी–न्यायशास्त्र, त्रयी–अध्यात्मविद्या, वार्ता–कृषि–वैज्ञानिकी और दण्डनीति आदि चारों विद्याओं का अध्ययन किया था। फलतः उस समय शिक्षा लोक और परलोक दोनों को बनाने वाली होती थी। उस समय घर से भी शिक्षा ग्रहण की जाती थी, केवल स्कूल भेजने तक ही से जिम्मेवारी समाप्त नहीं हो जाती थी।

आजकल माता–पिता बच्चों को स्कूल भेजने मात्र से ही अपने कर्त्तव्य की पूर्ति मान लेते हैं। बच्चों में पनपने वाली कुण्ठा का एक प्रमुख कारण यह भी है। पर, रघु ने धनुर्विद्या अपने पिता महाराज दलीप से ही, पवित्र मृगचर्म धारण कर नियमपूर्वक सीखी थी। उनके पिता भी स्वयं धनुर्धरों में शिरोमणि थे–

त्वचं स मेध्यां परिधाय रोरवी-
मशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः
क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः॥

(3. 31)

अतः रघुवंश का आदर्श रहा है कि शिक्षा का आरम्भ घर से ही होना चाहिए।

त्याग जीवन की पारसमणि है। यह जिसे छू देती है वह सोना बन जाता है। आज चाहे बहुमुखी शिक्षा ने बहुत उन्नति की है तथापि उसमें त्यागभाव की कमी है। रघुवंश काल में जब गुरुदक्षिणा के लिए अडिग कौत्स को नाराज होकर गुरु ने कहा कि तुमने चौदह विद्याएँ पढ़ी हैं तो चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ लेकर आओ। उस समय कौत्स ने रघु के आगे याचना का हाथ फैलाया। रघु ने उसके आगे स्वर्णमुद्राओं का ढेर लगा दिया, पर कौत्स ने उनमें से केवल चौदह करोड़ ही उठाईं, एक भी अधिक नहीं, जबकि रघु उसे सभी लेने का आग्रह कर रहे थे। उस समय साकेत के लोग बहुत ही आश्चर्य में थे किसे महान् समझें–

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिक निःस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥

(5. 31)

अतः यदि हम रघुवंश की शिक्षाओं को अपनाएं तो हमारी समस्याओं का काफी हद तक हल हो सकता है।

–साधु आश्रम, होशियारपुर।

www.thearyasamaj.org

रेकी : एक सम्पूर्ण उपचारपद्धति

–श्री सीताराम गुप्ता

रेकी क्या है ?

यह जापानी भाषा का शब्द है जो '**रे**' और '**की**' से मिल कर बना है। '**रे**' का अर्थ है '**सर्वव्यापी**' (Omnipresent) तथा '**की**' का अर्थ है '**जीवन शक्ति**' या '**प्राण**' (Life Force Energy)। इस प्रकार रेकी वह ईश्वरीय ऊर्जा, दिव्य ऊर्जा अथवा आध्यात्मिक ऊर्जा है जो इस समस्त ब्रह्माण्ड में हमारे चारों ओर व्याप्त है। हम सब इसी जीवनशक्ति को लेकर पैदा होते हैं और इसी के द्वारा जीवन जीते हैं। समय के साथ-साथ अनेक कारणों से जब हमारे शरीर में इस ऊर्जा का प्रवाह कम हो जाता है अथवा संतुलन बिगड़ जाता है तभी हमारा शरीर रोगों की ओर आकर्षित होता है। इस जीवनशक्ति का सुचारु और संतुलित प्रवाह हम सभी को जीवित और स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है। रेकी उपचार-अथवा साधना में हम इसी सर्वव्यापी जीवन-शक्ति का उपयोग अपने लाभार्थ करते हैं।

रेकी की खोज –

रेकी एक अनादि ऊर्जाशक्ति है। भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध तथा ईसामसीह में यह उपचारक शक्ति विद्यमान थी जिससे वे किसी भी व्यक्ति अथवा अन्य प्राणी को अपने स्पर्शमात्र से व्याधि मुक्त कर देते थे। इसके पर्याप्त प्रमाण हमें मिलते हैं। कालान्तर में यह शक्ति क्षीण होती चली गई और लुप्तप्राय हो गई। वर्तमान काल में इसकी खोज अथवा इसको पुन: स्थापित करने का श्रेय जापान के क्योटो विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक डॉ. मिकाओ उसुई को जाता है।

डॉ. उसुई ने उन्नीसवीं सदी के मध्य में इसको पुन: स्थापित किया। डॉ. मिकाओ उसुई के नाम पर इस पद्धति को "Usui Shiki Ryoho" अथवा "Usui System of Natural Healing" अर्थात् प्राकृतिक उपचार की उसुई पद्धति भी कहा जाता है। डॉ. मिकाओ उसुई-विश्वविद्यालय में क्रिश्चियन विद्या के प्राध्यापक थे। एक दिन उनके एक छात्र ने पूछा कि क्या ईसा मसीह की तरह मात्र स्पर्श द्वारा रोगों को दूर करना संभव है ? डॉ. उसुई इस तथ्य से सहमत तो थे कि स्पर्श द्वारा उपचार संभव है, क्योंकि बाइबिल में यह लिखा है लेकिन वे उपचार की इस विधि से अनभिज्ञ थे। इस घटना के बाद डॉ. उसुई ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया तथा बिना दवा के स्पर्श द्वारा उपचार की इस पद्धति को खोजना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इस सिलसिले में वे अमरीका, जापान, चीन, तिब्बत तथा भारत में आए और अनेक ग्रंथों का अध्ययन किया तथा अनेकानेक लोगों से मिले। अंत में एक संस्कृत ग्रंथ ''**कमलसूत्र**'' में उन्हें इसकी जानकारी

www.thearyasamaj.org

मिली, लेकिन आध्यात्मिक ऊर्जा नहीं जिससे वे उपचार कर सकते। जापान में कुरायामा पर्वत पर इक्कीस दिन की तपस्या या साधना के बाद उन्होंने वह शक्ति खोज ली जिससे स्पर्श द्वारा उपचार संभव हो सके और '**रेकी**' के प्रचार-प्रसार में जुट गए।

उन्होंने भिखारियों की बस्ती में जाकर नि:शुल्क उपचार कार्य प्रारम्भ किया लेकिन उन्हें अनुभव हुआ कि बिना माँगे और वो भी मुफ्त में मिली वस्तु का कोई महत्व नहीं होता। अत: उन्होंने दो प्राथमिक नियम बनाए –

1. जो व्यक्ति रेकी की शिक्षा प्राप्त करना चाहे अथवा रेकी उपचार लेना चाहे केवल उसे ही सिखाया जाए या उसका उपचार किया जाए।
2. रेकी सीखने वाले या रेकी उपचार लेने वाले व्यक्ति से अपनी सेवा के बदले कुछ न कुछ अवश्य लिया जाए।

डॉ. मिकाओ उसुई ने डॉ. चुजीरो हयाशी को रेकी का प्रशिक्षण देकर अपने बाद रेकी के प्रचार-प्रसार की जिम्मेदारी उन्हें सौंप दी। डॉ. चुजीरो हयाशी के बाद सुश्री टकाटा हवायो नामक महिला उनकी उत्तराधिकारिणी बनी तथा सन् 1970 व 1980 के मध्य उन्होंने इक्कीस रेकी शिक्षकों को तैयार किया जो अब तक लाखों रेकी शिक्षक तैयार कर चुके हैं।

भारत में सबसे पहले रेकी सीखने और उसका प्रचार-प्रसार करने वालों में दो नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं– अहमदाबाद के प्रवीण डी. पटेल तथा मुम्बई की श्यामल दुर्वे।

रेकी उपचार की प्रकृति–

रेकी उपचार में हाथों की हथेलियों से छूकर उपचार किया जाता है। अत: यह पद्धति स्पर्श-चिकित्सा (Touch Healing) की श्रेणी में आती है। रेकी उपचारक के हाथों की दोनों हथेलियों से रेकी ऊर्जा प्रवाहित होती है जो छूने पर स्वयं उसको या दूसरे व्यक्ति को उपचार में सहायता पहुँचाती है।

'रेकी शिक्षक' और 'रेकी चिकित्सक' –
'Reiki Teacher &Reiki Healer'–

रेकी शिक्षक वह व्यक्ति है जो किसी भी व्यक्ति को रेकी सिखाता है तथा उपचार करता है। रेकी सीखने वाला स्वयं का तथा दूसरों का उपचार तो कर सकता है लेकिन रेकी सिखा नहीं सकता। रेकी की शिक्षा देने के लिए कम से कम रेकी मास्टर की डिग्री की आवश्यकता है। रेकी मास्टर दूसरों को रेकी चिकित्सक बना सकता है तथा रेकी ग्रांड मास्टर रेकी मास्टर बना सकता है।[1]

---

1. *जहाँ तक मुझे समाचार-पत्रों तथा व्यक्तिगत रूप से ज्ञात है, होशियारपुर में श्रीमती संयोगिता मित्तल जी 'रेकी ग्रांड मास्टर' तो हैं ही, उन्होंने परोपकार रूप से इसका प्रचार एवं प्रसार हेतु कार्य प्रारम्भ किया हुआ है। जो कि अत्यन्त ही कल्याणकारी एवं लाभप्रद है। इसके लिए वे भूरि-भूरि प्रशंसा के पात्र तो हैं, साथ ही एक मार्ग-दर्शक होने से पूज्य भी हैं।*
–प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल (सम्पादक)

www.thearyasamaj.org

रेकी कैसे कार्य करती है ?

कोई भी व्यक्ति जो रेकी का प्रारंभिक प्रशिक्षण लेता है रेकी चैनल या माध्यम कहलाता है। रेकी उसके शरीर में ऊर्जा तरंगों के रूप में बहती है जो उसकी हथेलियों के माध्यम से उत्सर्जित होकर उपचार में मदद करती है। रेकी कैसे कार्य करती है इसको सही जानने के लिए शरीर के प्रमुख सात चक्रों अथवा ऊर्जा केन्द्रों की जानकारी आवश्यक है। ऊपर से नीचे की ओर स्थित क्रमशः सात चक्र निम्नलिखित हैं–

	चक्र का नाम		रंग	
1.	सहस्रार	(Crown)	Violet	बैंगनी
2.	आज्ञाचक्र	(Third Eye)	Indigo	नीला
3.	विशुद्ध चक्र	(Throat Chakra)	Blue (Sky B.)	आसमानी
4.	अनाहत/ हृदय चक्र	(Heart Chakra)	Green	हरा
5.	मणिपूर चक्र	(Solar Plexus)	Yellow	पीला
6.	स्वाधिष्ठान चक्र	(Hara Chakra)	Orange	नारंगी
7.	मूलाधार चक्र	(Root Chakra)	Red	लाल

हमारे शरीर में ऊर्जा का प्रवाह इन्हीं चक्रों के माध्यम से होता है। रेकी उपचार-प्रक्रिया में रेकी-ऊर्जा हमारे सहस्रार (अथवा Crown Chakra) से प्रविष्ट होकर आज्ञाचक्र, विशुद्ध चक्र, हृदय चक्र तथा हाथों से होती हुई दोनों हाथों की हथेलियों से उत्सर्जित होती है। इसके लिए किसी बाह्य प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। मात्र सोचने और हथेलियाँ रखने से उपचार की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। ज़रूरत है तो सिर्फ एक बार रेकी शिक्षक से प्रशिक्षण लेने की।

रेकी सुसंगतता अथवा शक्तिपात –

रेकी शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान ऊपर के चारों चक्रों को Attune कर रेकी ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित तथा अवरोधमुक्त कर देता है। इस प्रक्रिया को सुसंगतता अथवा शक्तिपात अर्थात् Attunement या Initiation कहते हैं। इस प्रक्रिया को गुप्त रखा जाता है। मात्र पढ़ने से इसकी शक्ति प्राप्त नहीं होती क्योंकि इसके प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं– स्पर्श, दृष्टि, मंत्रोच्चारण, प्राणप्रवाह (प्राणाहुति) तथा संकल्प।

एक बार शक्तिपात हो जाने के बाद जीवन-भर ये आध्यात्मिक ऊर्जा आपके चाहने मात्र से तुरंत प्रवाहित होकर उपचार में सहायक होती है।

रेकी की सुचारुता –

क्योंकि रेकी ऊर्जा का प्रयोग करने वाला व्यक्ति ऊर्जा का वाहक मात्र होता है, स्रोत नहीं, इसलिए प्रयोग के कारण रेकी-उपचारक की अपनी ऊर्जा कम नहीं होती। अपितु जब वह दूसरे की चिकित्सा करता है तो उसकी स्वयं की

www.thearyasamaj.org

चिकित्सा भी साथ-साथ हो जाती है। एक रेकी चैनल जब स्वयं की अथवा दूसरों की चिकित्सा नहीं भी करता है तब भी न्यूनाधिक मात्रा में ऊर्जा का प्रवाह उसकी हथेलियों के माध्यम से बना रहता है जो उसके चारों ओर एकत्रित होकर उसके आभामण्डल अर्थात् Aura को मजबूत तथा विस्तृत करता है। व्यक्ति का आभामण्डल जितना विस्तृत और ऊर्जस्वित होगा व्यक्ति उतना ही अधिक स्वस्थ और निरोग होगा। ऐसे व्यक्ति के पास बैठना आनंददायक प्रतीत होता है। साधु-संतों, बच्चों, पशु-पक्षियों अथवा पेड़-पौधों के पास बैठना भी बड़ा आनंददायक लगता है। लेकिन क्यों ? क्योंकि इन सब में ऊर्जा का प्रवाह पर्याप्त होने के कारण इनका आभामण्डल विस्तृत और ऊर्जस्वित होता है और स्वाभाविक रूप से आकर्षित करता है।

रेकी द्वारा उपचार कैसे किया जाता है ?

जब रेकी द्वारा उपचार करते हैं तो हथेलियों को शरीर के विभिन्न भागों पर क्रमशः तीन-तीन मिनट तक रखते हैं। पूरे शरीर को उपचारित करने के लिए रेकी गुरुओं ने चौबीस से तीस के बीच स्थान निर्धारित किये हैं। इसमें 72 से 90 मिनट तक का समय अपेक्षित है। समयावधि आवश्यकतानुसार कम-ज़्यादा की जा सकती है। किसी विशेष भाग में पीड़ा या रोग होने पर उस विशिष्ट अंग को ज्यादा समय तक रेकी देते हैं। सात चक्रों का रेकी में विशेष महत्त्व है अतः यदि पूरे शरीर को रेकी दे पाने में समय की कमी या अन्य कठिनाई है तो चक्रों को अवश्य रेकी दें। स्वयं के सहस्रार को रेकी नहीं दी जाती क्योंकि ऐसा करने से ऊर्जा का प्रवेश बाधित हो जाएगा। दूसरे को रेकी देते समय उसके सहस्रार को रेकी दी जा सकती है।

रेकी प्रारंभ करने वाले व्यक्ति को शुरु में कम से कम इक्कीस दिन पूरे शरीर की नियमित रूप से हीलिंग करनी चाहिए।

स्पर्श-चिकित्सा तथा दूरस्थ चिकित्सा –

स्पर्श-चिकित्सा में हम स्वयं की अथवा दूसरों की हथेलियों के स्पर्श द्वारा चिकित्सा करते हैं लेकिन दूरस्थ चिकित्सा में रोगी के शरीर को छूए बिना और देखे बिना दूर बैठ कर उपचार करते हैं। यह दूरी कुछ इंचों से लेकर हज़ारों मील तक की हो सकती है। इसमें रेकी प्रतीक चिह्नों अर्थात् Reiki Symbols का उपयोग किया जाता है। जो रेकी की दूसरी डिग्री में सिखाया जाता है। रेकी प्रतीक चिह्नों के उपयोग से रेकी ऊर्जा का प्रवाह चार-पाँच गुना अधिक हो जाता है जिससे समय की समस्या भी हल हो जाती है।

क्या रेकी मात्र एक रोगोपचारक पद्धति है ?

रेकी मात्र एक रोगोपचारक पद्धति नहीं है अपितु संपूर्णता के साथ जीवन जीने की एक कला है। रेकी एक सम्पूर्ण उपचारपद्धति है। व्याधि को समूल नष्ट करने की पद्धति। रेकी न केवल भौतिक शरीर में उत्पन्न विभिन्न व्याधियों को दूर कर आरोग्य प्रदान करती है अपितु भावनात्मक संतुलन तथा आध्यात्मिक अभ्युदय अथवा चेतना के स्तर में वृद्धि द्वारा व्यक्ति को

www.thearyasamaj.org

निरंतर स्वस्थ, सकारात्मक तथा उत्साहपूर्ण बनाए रखने में सहायक है। अधिकतर रोगों की प्रकृति मनोदैहिक अर्थात् Psychosomatic होती है। अधिकतर व्याधियों का मूल कारण होता है मन की स्थिति व सोच। अत: रोगों का मूल कारण है तनाव, चिंता, भय, क्रोध, निराशा, अवसाद, घृणा, उत्तेजना, प्रावरोध, कुंठा, सुस्ती और आलस्य, राग-द्वेष व अहंकार आदि नकारात्मक चित्तवृत्तियों से उत्पन्न मन:स्थिति। रेकी स्वयं में एक सम्पूर्ण ध्यानपद्धति अथवा Meditation Technique है। अत: रेकी अन्य सभी ध्यान उपचारक विधियों की तरह उपरोक्त नकारात्मक चित्त-वृत्तियों से मुक्ति प्रदान कर सम्पूर्ण स्वास्थ्य की ओर अग्रसर करती है। रेकी सम्पूर्ण रूपांतरण की प्रक्रिया है A process of complete transformation.

आंतरिक और बाह्य रूपांतरण, शारीरिक और मानसिक कायांतरण। क्योंकि रेकी शरीर में व्याप्त दूषित अथवा नकारात्मक ऊर्जा को हटाकर उसके स्थान पर स्वच्छ-सकारात्मक ऊर्जा भर देती है। अत: रेकी का पहला कार्य भौतिक शरीर को निरोग और स्वस्थ बनाना होता है। जब शरीर स्वस्थ होगा तो मन भी स्वस्थ होगा और उसकी गति भी सकारात्मक होगी। ''शारीरिक स्वास्थ्य से मानसिक स्वास्थ्य तथा मानसिक स्वास्थ्य से पुन: शारीरिक स्वास्थ्य'' एक बार यह प्रक्रिया शुरु होने की देर है फिर देखिए कैसे शीघ्र ही हम सम्पूर्णता के तीसरे आयाम अथवा बिंदु आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर होने लगते हैं। अपनी स्व की चेतना से जुड़ कर पराचेतना तथा ईश्वरीय-चेतना से जुड़ जाते हैं। ईश्वरीय-चेतना अर्थात् ईश्वरीयऊर्जा अर्थात् दिव्य-ऊर्जा जो स्वयं रेकी है। रेकी द्वारा रेकी से जुड़ना। ऊर्जा द्वारा ऊर्जा से जुड़ना। सम्पूर्ण ऊर्जामय होना। सम्पूर्ण रेकीमय होना।

आचार्य शंकर का अद्वैतवाद कहता है ''**ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर:** अर्थात् ब्रह्म सत्य है संसार माया, जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म और जीव अथवा ईश्वर और हम अभिन्न हैं। मैं यही निष्कर्ष निकालता हूँ कि न तो मैंने अपितु हम सबने न ईश्वर को देखा है न रेकी को। दोनों ही ऊर्जा स्वरूप हैं तो फिर क्यों न हम कहें कि ईश्वरीय ऊर्जा अथवा रेकी ही सत्य है, संसार सत्य नहीं, संसार रेकी से भिन्न नहीं। रेकी ही ब्रह्म है। क्यों न रेकी से एकाकार होने का प्रयास करें।

संक्षेप में रेकी रोगों के उपचार के साथ-साथ आपसी संबंधों में सुधार करने, लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता करने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र स्रोत है। दुष्यंत कुमार का एक शेर है-

एक चिंगारी कहीं से ढूंढ लाओ दोस्तो,
इस दिये में तेल से भीगी हुई बाती तो है॥

रेकी सीखने-सिखाने तथा उपचार करने की पात्रता-

कोई भी व्यक्ति, स्त्री या पुरुष, किसी भी आयु में रेकी सीख सकता है तथा रेकी द्वारा उपचार कर सकता है। रेकी सीखना और रेकी

www.thearyasamaj.org

द्वारा उपचार करना इतना सरल है कि छोटा बच्चा भी इसे सीखकर लाभ उठा सकता है। रेकी का संबंध किसी भी राष्ट्र, धर्म अथवा संप्रदाय से नहीं है। अत: किसी भी धर्म, सम्प्रदाय अथवा विचारधारा को मानने वाला व्यक्ति रेकी ऊर्जा के उपयोग से लाभान्वित हो सकता है।

कुछ लोग रेकी से पूर्णरूप से लाभान्वित नहीं हो पाते, क्यों ?

कारण है विश्वास की कमी या सीमित विश्वास। श्रद्धा और समर्पण का अभाव, संशय की प्रधानता, अभ्यास में शिथिलता। कहा गया है कि "**श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्**" तथा "**संशयात्मा विनश्यति**"।

कहने का अर्थ ये है कि जब तक संशय का दौर समाप्त नहीं होगा तब तक हम किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकते। श्रद्धा, समर्पण तथा असंशय या संशय रहित होने के साथ-साथ जीवन में स्थितियों और घटनाओं को स्वीकारना भी महत्वपूर्ण हैं। जितना अधिक हम वाद-विवाद में उलझेंगे, तर्क-वितर्क या कुतर्क करेंगे उतना ही आध्यात्मिक ऊर्जा से वंचित रहेंगे। परिणाम की चिंता भी बेमानी है। जैसे ही हम परिणाम की चिंता में ग्रस्त होते हैं, हमारा आध्यात्मिक स्तर कमज़ोर पड़ जाता है। जीवन शक्ति के प्रवाह में रुकावट आती है।

कर्ताभाव का त्याग करके निष्काम कर्म तथा नि:स्वार्थ प्रेम की महत्ता सभी ने स्वीकार की है। एक रेकी साधक को भी इन पर आचरण करना चाहिए। रेकी की सुचारुता में वृद्धि हो इसके लिए रेकी के प्रथमाचार्य डॉ. मिकाओ उसुई ने रेकी के पाँच सैद्धांतिक नियम बनाए हैं। प्रत्येक रेकी साधक को इन का पालन करना चाहिए।

रेकी के पाँच सैद्धांतिक नियम –

1. Just for today don't worry.
2. Just for today don't anger.
3. Earn your living honestly.
4. Show gratitude to everything.
5. Respect your elders, teachers & parents and love your youngers.

इन सिद्धांतों का पालन करना रेकी उपचार में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। रेकी के इन पाँचों सिद्धातों को आत्मसात् किया जा सके इसके लिए मैंने इन्हें निम्नरूप में प्रस्तुत किया है–

1. आज मैं पूर्णरूप से प्रसन्न हूँ।
2. आज मैं प्रेम से परिपूर्ण हूँ।
3. मैं ईमानदारी से अपनी आजीविका कमाता हूँ।
4. मैं हर वस्तु और स्थिति के लिए कृतज्ञ हूँ तथा प्रत्येक स्थिति को यथावत् स्वीकार करता हूँ।
5. मुझे हर वस्तु में श्रद्धा तथा विश्वास है तथा मैं अपने माता-पिता, गुरुओं तथा सभी बड़ों का आदर करता हूँ एवं सभी छोटों को प्यार करता हूँ।

मैं अपने रेकी प्रशिक्षण कार्यक्रमों में उपरोक्त नियमों को आत्मसात् कराने का प्रयास करता हूँ।

www.thearyasamaj.org

रेकी में इन सिद्धांतों का वही स्थान है जो 'योग' में यम और नियम का। योग के आठ अंग हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। मात्र आसन करना संपूर्ण योग नहीं है। यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह व नियम अर्थात् शौच, संतोष, तपस, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान इनके बिना योग अधूरा है। इसी तरह रेकी में उपरोक्त पाँच सिद्धांतों का आत्मसात् करना उचित तथा अनिवार्य है।

क्या रेकी के साथ अन्य चिकित्सा-पद्धति भी अपनाई जा सकती है ?

उत्तर है- अवश्य।

यदि रोगी का एलोपैथी या अन्य चिकित्सा पद्धति से इलाज चल रहा हो तब भी उसको रेकी दी जा सकती है और देनी भी चाहिए। रेकी से ऊर्जा के स्तर में वृद्धि तथा ऊर्जा का संतुलन होने से दवाओं का असर अपेक्षाकृत शीघ्र और ज्यादा होता है। दवाओं की मात्रा क्रमशः कम होती चली जाती है।

यदि रोगी को दी जाने वाली दवा और भोजन को रेकी दी जाए तो उसके परिणाम भी बहुत अच्छे होते हैं। स्वास्थ्य-लाभ शीघ्र संभव होता है। वैसे भी रेकी आध्यात्मिक ऊर्जा है। इसमें प्रार्थना का तत्व भी समाहित है। आप सब जानते हैं कि '**प्रार्थना**' अपने आप में एक उपचारपद्धति है। प्रार्थना अपने इष्टदेव से की जाती है। 'रेकी' ईश्वर का ही दूसरा नाम है, अतः 'रेकी' के माध्यम से प्रार्थना का भी उतना ही प्रभाव है। दूरस्थ उपचार अथवा Distant Healing क्या है। रेकी के माध्यम से प्रार्थना ही तो है। अंतर इतना है कि इसमें रेकी प्रतीक चिह्नों की मदद ली जाती है। वैसे आप ने एक डायलॉग सुना होगा- "दवा जो काम कर सकती थी कर चुकी, अब बस दुआ कीजिए" और आपने दुआओं का असर होते भी देखा होगा। तो फिर क्यों न दवाओं के साथ भी और दवाओं के बिना भी जहाँ तक संभव हो रेकी का उपयोग प्रारम्भ कर दें। रेकी ऊर्जा आप सब के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे, इसी कामना के साथ!

— AD/ 19 A, प्रीतमपुरा, दिल्ली-110088

www.thearyasamaj.org

श्रमण-संस्कृति-एक अनुचिन्तन

-डॉ. सुव्रत मुनि जी महाराज

विश्व में समय-समय पर जो भी संस्कृतियां पनपती रही हैं, अनेक लोगों ने उनका अनुसरण और अनुगमन भी किया है। सम्पूर्ण विश्व-संस्कृतियों को पाश्चात्य और पौर्वात्य दो भागों में विभक्त किया जाता रहा है। यद्यपि पाश्चात्य संस्कृति में अनेक विचारक और सुधारक हुए हैं, जिन्होंने भौतिक सुखों को क्षणिक समझकर उनके परित्याग का उपदेश और शाश्वत सुख-शान्ति की खोज के लिए मार्ग-दर्शन किया। तथापि वह संस्कृति भोगवादी ही रही। जबकि भारतीय संस्कृति में सर्वदा यही उद्घोषित किया जाता रहा है कि मानव जीवन का परम लक्ष्य है-'**मोक्ष**'। मोक्ष का अर्थ है सांसारिक दु:खों से सर्वथा विमुक्त होना। यही परम पुरुषार्थ है।[1] इसी को लक्ष्य करके त्रिविध दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने चार पुरुषार्थों में मोक्ष को अग्रणी माना है और योग को उसका कारण बताते हुए सम्यग् ज्ञानदर्शन चरित्र को मोक्ष कहा है।[2] इसीलिए भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है।

भारतीय-संस्कृति की दो प्रमुख धाराएं रही हैं- ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मण-संस्कृति में अधिकतर भौतिक सुखसमृद्धि को महत्व दिया गया है। यही कारण है कि ब्राह्मण-संस्कृति ऐहिक सुख-भोग की अभिलाषा के साथ-साथ स्वर्गीय ऐश्वर्य में साधना की इतिश्री कर मोक्ष को भी अन्तिम लक्ष्य मानती है। जबकि श्रमण-संस्कृति वैषयिक सुखों तथा पारलौकिक वैभव की आकांक्षा का परित्याग करके मानव को मोक्ष-लक्ष्यी बनाती है। इसीलिए श्रमण-संस्कृति तप, संयम, त्याग आदि के मार्ग पर चलने का सन्देश देती है।

श्रमण-संस्कृति की भी जैन और बौद्ध दो धाराएं हैं। बौद्ध-संस्कृति का उद्गम भी भारत-भूमि ही रही है। परन्तु धीरे-धीरे वह किन्हीं कारणों से विरल हो गई। परन्तु जैन श्रमण-संस्कृति अपने पूर्ण गौरव के साथ आज भी गतिशील है। लाखों गृहस्थ उपासक एवं हजारों साधु-साध्वियाँ इसके प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पित किए हुए हैं। इतना ही नहीं पाश्चात्य देशों में भी इसके अनुयाईयों की भारी संख्या है।

जैन-संस्कृति में तीर्थंकर ही सर्वोपरि है। तीर्थंकर ही अपने-2 समय में धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। साधु-साध्वी, श्रावक और

1. महर्षि कपिल सांख्यसूत्र।

2. योगशास्त्र, 1/15.

www.thearyasamaj.org

श्राविका को तीर्थ कहा जाता है। इस चतुर्विध धर्मसंघ के संस्थापक होने से ही ये महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक कालचक्र में 24 तीर्थंकर होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार सृष्टि अनादि है। अतः इसमें अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं। अनेक जैन-ग्रन्थों में भूत, भविष्य और वर्तमान के 24 तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। अब तक जो तीर्थंकर हुए हैं उनमें प्रथम ऋषभ देव की गणना की जाती है। ऋषभ देव जी की मान्यता जैन-साहित्य में ही नहीं, अपितु वैदिक और पाश्चात्य साहित्य में भी उपलब्ध होती है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति और महिमा गाई गई है।[3] इसके अतिरिक्त भारतीय और पाश्चात्य इतिहासकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में ऋषभदेव का उल्लेख किया है।[4]

संस्कृति व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र की एक अनुपम नाड़ी होती है जिसकी धड़कन को देखकर उसकी त्रैकालिक स्थिति का अनुमान लगाया जाता है। जैनदर्शन के सिद्धान्त इस कसौटी पर खरे उतरे हैं। कुछ प्रमुख सिद्धान्तों के प्रतिपादन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है जो जैन-श्रमण-संस्कृति के मर्म को उद्घाटित करते हैं। यह प्रमुख मौलिक सिद्धान्त हैं-व्रत पालन, श्रम की प्रतिष्ठा, अहिंसा प्रतिपादन, अपरिग्रहवाद, अनेकान्तवाद और मानव का महत्त्व।

व्रत पालन--

कोई सम्प्रदाय या विचारक कुछ भी कहे , पर जैन दर्शन में व्रत को बहुत महत्त्व दिया गया है। जैन-दर्शन की मान्यता है कि समाज का मूलाधार व्रत है। प्रत्येक मनुष्य अपने तथा अन्य प्राणीमात्र के संरक्षण-संवर्धन के लिए कुछ व्रत अथवा मर्यादाओं को ग्रहण करता है। जैन-दर्शन में 12 व्रत माने गये हैं जो गृहस्थों के लिए हैं। इनमें 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रत हैं। यह 12 सद्गृहस्थाचार अर्थात् साधारण मानव के आचार हैं। इनसे मनुष्य अपनी जन्म-जात प्रवृत्तियों, भावनाओं और इच्छाओं पर अंकुश लगाता है। उनका परिमार्जन और परिष्कार करता है।

किसी भी संस्कृति का आधार तत्सम्बन्धी मानवों की संस्कारित इच्छाओं का होना ही होता है। इसीलिए जैन-दर्शन की मान्यता है कि जो व्रती नहीं है वह धार्मिक नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह अपनी इच्छानुसार व्रत का वरण या चयन करे। मानव और संस्कृति के बीच जो वास्तविक सम्बन्ध है वह व्रत है। अतः हम यदि व्रत नहीं करते तो हम सामाजिक नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट है कि जैसे धार्मिक होने के लिए व्रत आवश्यक है वैसे ही सामाजिक होने के लिए भी व्रत-धारण करना आवश्यक है। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि संस्कृति और समाज के उत्थान, कल्याण और निर्माण के लिए कुछ व्रत,

3. जैन धर्म का भौगोलिक इतिहास, ऋषभदेव एक अनुशीलन।

4. दे. प्रेममुनि स्मृतिग्रन्थ, पृ. 18.

www.thearyasamaj.org

मर्यादा अथवा संकल्पों का पालन यथावत् होता रहता है। जैनसमाज में अब भी हजारों सद्-गृहस्थों और श्रमण-श्रमणियों का विशाल समुदाय है जो दृढ़ता के साथ अणुव्रत एवं महाव्रतों का पालन करते हैं।

श्रम–

जैन-दर्शन में श्रम का बहुत महत्त्व है– श्रम अर्थ मात्र का तो मूल है ही, समाज और संस्कृति का भी आधारभूत स्तम्भ है। प्रत्येक मनुष्य के लिए श्रम करना आवश्यक है। श्रम शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक तीन प्रकार का माना गया है। शारीरिक श्रम शरीर से होता है, जो स्थूल है। बौद्धिक श्रम बुद्धि से होता है, जो सूक्ष्म होता है। स्वाध्याय और चिन्तन उसके भेद हैं। आध्यात्मिक इनसे भिन्न हैं जो आत्मा द्वारा सम्पन्न होने से अतिसूक्ष्म है। जब मानव बाह्य विषयों की ओर आकर्षित रहता है तो उन्हीं के ध्यान एवं चिन्तन में लगा रहने से उसकी आत्मा बहिरात्मा कहलाती है। जब वह सम्यक्-दृष्टि प्राप्त करके भावजगत् का चिन्तन मनन और विश्लेषण करता है तब उसकी आत्मा अन्तरात्मा हो जाती है। अन्त में जब उसकी आत्मा अन्तः और बहिः के द्वन्द्व से ऊपर उठकर स्थितप्रज्ञ होती है तब वह आत्मा से परमात्मा हो जाती है। इसीलिए कहा है कि **''अप्पा सो परमप्पा''** आत्मा ही परमात्मा है। इस प्रक्रिया में पहले बौद्धिक श्रम और अन्त में आध्यात्मिक श्रम होता है। शरीर से श्रम करने वाले श्रमिक और आध्यात्मिक श्रम करने वाले श्रमण कहलाते हैं। मध्य के जो बौद्धिक श्रम करने वाले हैं, उन्हें श्रुतिधर, आचार्य, मुनि और उपाध्याय कहा जाता है।

लोक में तो शारीरिक श्रम करने वाले को कम अर्थ और कम महत्त्व दिया जाता है और बौद्धिक तथा आध्यात्मिक श्रम करने वाले को अधिक महत्त्व दिया जाता है। किन्तु जैनदर्शन में आध्यात्मिक श्रम करने वालों के पास बिल्कुल भी अर्थ नहीं होना चाहिए। बौद्धिक श्रम करने वालों के पास आवश्यकता से अधिक अर्थ नहीं होना चाहिए और शारीरिक श्रम करने वालों के पास सबसे अधिक अर्थ-धन होना चाहिए। इस प्रकार जैनमत ऐसी व्यवस्था का समर्थक है जिसमें प्रत्येक श्रमिक को पर्याप्त धन मिलना चाहिए। इस व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए गुणव्रत और शिक्षाव्रत का विधान किया गया है। जैनसंस्कृति में इनका विशिष्ट स्थान है। जिसमें श्रम आधार स्वरूप है। जैसा कि लिखा भी है कि शरीर से कठोर परिश्रम करने से महाफल की प्राप्ति होती है।

अहिंसा –

जैनदर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है– अहिंसा। क्योंकि समस्त सद्गुणों का विकास अहिंसा के विकास पर आधारित है। अहिंसा का अर्थ जीवहिंसा से विरत होना ही नहीं अपितु प्राणीमात्र से प्रेम करना भी है। हिंसा समाज और संस्कृति की आत्मघाती प्रवृत्ति है उसके बढ़ने से समाज, संस्कृति का अस्तित्व नष्ट होने लगता है। उसके रहते अन्याय और अराजकता एवं अशान्ति बनी रहती है। अतः उसके परित्याग से ही सभ्यता

www.thearyasamaj.org

और संस्कृति का प्रारम्भ होता है। पूर्ण अहिंसा की स्थापना से बैर-भाव नष्ट हो जाता है और जन्म-जात हिंसक प्राणी सिंह जैसों में भी मित्रभाव प्रकट हो जाता है। अहिंसा के परिपालन से ही संस्कृति शाश्वत बनती है। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य का अपने ऊपर पूर्ण अनुशासन हो तभी वह दूसरे को अनुशासित कर सकता है। अत: जैन-संस्कृति पहले अपने पर ही अनुशासन करने का उपदेश देती है। अपना दमन ही कल्याणकारी है। इससे उभयलोक में सुख-शान्ति प्राप्त होती है। इसी से आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना अन्त:करण में जागृत होती है।

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि मानव को प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव स्थापित करना चाहिए। इसीलिए साधक दोनों समय इसी भाव को दृढ़ करने के लिए उच्च स्वर से बोलता है कि **''मित्ति मे सव्वभूवेसु वैरं मज्झं न केणइ।''** इससे शत्रुभाव का मूलोच्छेदन हो जाता है। इसके साथ ही जैनदर्शन में संविभाग-समवितरण की भावना भी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। कहा भी है कि जो संविभागी नहीं है उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। जैनदर्शन का मानना है कि सुख-शान्ति देने से सुख-शान्ति और समाधि प्रदान से ही समाधि की प्राप्ति होती है।

अपरिग्रह–

अपरिग्रह का सिद्धान्त जैन-संस्कृति की धुरी है। समस्त संसार परिग्रह के जाल में फंसा रहता है किन्तु जो लोग पूर्ण अपरिग्रही हो जाते हैं वही संस्कृति की व्यवस्था के संचालक होते हैं। उनके लिए अपरिग्रह का अर्थ सर्व-परिग्रह से विरमण है। इसी से जैन-साधना में साधक जो पांच महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण करते हैं, उनमें एक अपरिग्रह महाव्रत भी है। बौद्धिकों के लिए यह अपरिग्रह एक अणुव्रत के रूप में है। बौद्धिकों के लिए जैनदर्शन में गुणव्रत अर्थात् पूर्वगृहीत अणुव्रत की मर्यादा को और भी सीमित करने का प्रावधान है। वह गुणव्रत-दिशा परिमाण, उपभोग परिमाण और अनर्थ दण्ड के भेद से तीन प्रकार का है। ये तीनों विशेषरूप से अपरिग्रह के सहायक हैं। इससे स्पष्ट होता है कि समाजसेवी में साधारण व्यक्तियों से अधिक त्याग होना चाहिए।

अर्थ समाज-व्यवस्था के लिए आवश्यक है। अर्थ व्यवस्था के लिए समाज उसके उत्पादन तथा वितरण का भार वहन करता है। अर्थ उत्पादन के लिए समाज उद्योग तथा राज्य का निर्माण करता है। राज्य को अपनी सुव्यवस्था के लिए कर-विधान स्थापित करना पड़ता है। जैन मतानुसार राजा को प्रजा की सम्पत्ति और आय पर कर लगाने का अधिकार है। फिर भी प्रजा को अपनी संग्रहवृत्ति को मर्यादित रखना चाहिए। राज्य और नागरिक दोनों अपनी मर्यादित प्रवृत्ति के अनुसार ही अपनी संग्रह-भावना को आगे बढ़ाएं। मर्यादा से अधिक धनसंग्रह राजा और प्रजा दोनों के लिए जघन्य कार्य है। जब राज्य प्रजा से अधिक कर वसूलता है तो उसे कष्ट होता है। साथ में उसे अनैतिक कार्य भी करने पड़ते हैं जिससे पाप प्रवृत्ति बढ़ती है।

राज्य का कार्य प्रजा का हित करना है। यही उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक भी है। उसका अस्तित्व प्रकार्यात्मक है द्रव्यात्मक नहीं।

www.thearyasamaj.org

द्रव्यात्मकता से राज्य में विलासिता बढ़ती है जो कि आत्मविनाश का लक्षण है। इसीलिए इसमें इच्छापरिणाम व्रत विधान किया गया है। अतः राज्य को प्रगतिशील कराधान व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए तथा प्रजा को अपरिग्रह व्रत का स्वेच्छा से पालन करना चाहिए।

अनेकान्तवाद –

जैनदर्शन का अनूठा मौलिक सिद्धान्त है–अनेकान्तवाद। समाज में अनेक बुराईयां तथा विविध हिंसक कार्य एकान्तवाद से उत्पन्न होती हैं। एकान्तवाद का अर्थ है–एक विचार की एक अति अथवा अन्त। जो लोग मानते हैं कि उनका विचार ही एकमात्र सत्य है, अन्यों का असत्य, तो इससे कट्टरता, धर्मान्धता, असहिष्णुता और हिंसा बढ़ती है। इससे विविध धर्मों में पारस्परिक संघर्ष और अनेक विवाद खड़े हो जाते हैं। इनसे मुक्ति दिलाने वाला एकमात्र सिद्धान्त अनेकान्तवाद ही है। अनेकान्तवाद सभी मतों और विचारों में सामञ्जस्य एवं समन्वय स्थापित करने वाला अनूठा सिद्धान्त है। क्योंकि अनेकान्तवाद के अनुसार प्रत्येक विचार या मत किसी संदर्भविशेष में ही सत्य होता है जो सापेक्ष होता है। अनेकान्तवाद प्रत्येक व्यक्ति को नम्रता, सहिष्णुता, उदारता और करुणा की शिक्षा देता है। इसके बिना समाज की विविधता जीवित नहीं रह सकती। इसलिए संघसमाज की सुव्यवस्था के लिए अनेकान्तवाद अतीव आवश्यक है। यह अहिंसा का आधार भी है। अतः अहिंसा और अनेकान्तवाद साथ-साथ चलते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

मानव का महत्त्व–

जैनदर्शन मानववाद का प्रतिष्ठापक है। मानव ही संस्कृति का सशक्त संवाहक है। अतः जैनदर्शन मानव से उच्चतर किसी प्राणी को नहीं मानता। 63 शलाका पुरुष जैन–परम्परा में आदर्श महापुरुष माने जाते हैं। जैनदर्शन की मान्यता है कि मानव ही अपना पूर्ण विकास कर सकता है और परमात्म स्वरूप को पा सकता है। वह मानव के अतिरिक्त अन्य जीवों की आत्माओं को भी मानता है। वस्तुतः उसे सर्वात्मवादी कहा जाता है। नैतिक और सामाजिक मूल्यों को आदर्श बनाने के लिए जैनदर्शन मानव के महत्त्व को गहराई से स्वीकारता है।

जैनदर्शन जड़वादी नहीं, उसके अनुसार जीव का लक्षण चैतन्य है। जीव ज्ञानवान्, इच्छावान् और क्रियावान् है, अजीव ऐसा नहीं है। मनुष्य में बुद्धि और मुक्ति की भावना रहती है जब कि अन्य जीवों में नहीं। मनुष्य अपना सम्पूर्ण विकास कर सकता है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन मनुष्य के विकास की अवस्थाएं हैं। जन्म से प्रत्येक मानव बहिरात्मा है। साधारण से वह क्रमशः अन्तरात्मा और परमात्मा बनता है। परमात्मा होना ही प्रत्येक मानव का अन्तिम लक्ष्य है। इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में परमात्मा होने का सामर्थ्य है। परन्तु परमात्मा का अर्थ जगत् का कर्ता नहीं। कोई भी मानव अपने सद्पुरुषार्थ से परमात्मा हो सकता है। ऐसी जैनमत की मान्यता है। यद्यपि जैनदर्शन वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा को अनेकान्त की

www.thearyasamaj.org

दृष्टि से स्वीकारता है। तथापि वह जन्मना वर्ण और जाति के पक्ष में नहीं है। कर्म के आधार पर ही वह जाति और वर्ण को व्यवहार में स्वीकारता है जैसा कि कहा भी है– कर्म से ही मानव ब्राह्मण, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही क्षुद्र होता है।[5]

श्रावक तथा श्रमण – श्रावक और श्रमण जैन-संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। जैनदर्शन अध्यात्म विकास के आधार पर श्रावक और श्रमण ये दो भेद करता है। श्रावक लोक कर्मी और अणुव्रती होता है। श्रमण ऊर्ध्वरेता और महाव्रती होता है। श्रमण संघ, श्रावक की आस्था और श्रद्धा के लिए आवश्यक है। समाज में सदाचार को प्रतिष्ठित बनाना और आत्मस्वरूप को अधिगत करना ही श्रमण का लक्ष्य होता है। वह धर्म आरै अध्यात्म के समस्त सद्गुणों का साकाररूप है। उसके चारित्र दीप से ही श्रावकवर्ग का चारित्र दीप जलता है। यही कारण है कि श्रमण, श्रावक का हितकारी होता है और श्रावक श्रमणोपासक।

प्रत्येक श्रावक के लिए श्रमण वन्दनीय है। राजा, प्रशासक, व्यापारी, शिल्पी, श्रमिक आदि ये सभी श्रावक हैं। श्रमण इनसे उच्चतर होता है। श्रमण लौकिक प्राणी होता हुआ भी लोकोत्तर है। वह विग्रहवान् धर्म है। अतः जिस धर्म संस्कृति में "**श्रमण परम्परा**" जीवित रहती है, उसका कभी उच्छेद नहीं होता। जैन-संस्कृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि कोई भी श्रमण हो सकता है। यही श्रमण मध्य युग में सन्त और वर्तमान में मुनि नाम से जाना जाता है। इससे सिद्ध होता है कि जैन सन्तपरम्परा का भारतीय समाज, संस्कृति में इतना स्थायित्व है कि सन्त अथवा श्रमण ही यहां सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। यह श्रमण-व्यवस्था या सन्त-परम्परा वर्ण-व्यवस्था के साथ जुड़ी है। जिससे वर्ण-व्यवस्था मर्यादित रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्ण-व्यवस्था के साथ श्रमण परम्परा का चलना आवश्यक है। जिससे सर्वोच्च पद तक सभी मनुष्यों की पहुँच संभव हो सके। धन या पद से कोई मानव महान् नहीं होता अपितु सद्चरित्र ही उसे महान् बनाता है।

निष्कर्ष रूप से लिखा जा सकता है कि जैन-संस्कृति में लौकिक और आध्यात्मिक मूल्यों का परस्पर पूर्यपूरक भाव स्वीकार किया गया है। जैन-संस्कृति का लक्ष्य इस लोक और इसके निवासी मानव का सर्वकल्याण करना रहा है। यह इस की मौलिकता है जो इसे उत्तम संस्कृति का गौरव प्रदान करती है।

–शास्त्री, एम. ए. (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच. डी., ऋषभ विहार, दिल्ली।

5. उत्तरा., 25 / 33.

www.thearyasamaj.org

प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा

–डॉ. उषाकिरण

वैदिक-साहित्य में गुरु,आचार्य, उपाध्याय आदि शब्दों का पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग मिलता है। परन्तु 'गुरु' शब्द सर्वत्र विशेष व्याप्त है। लोकव्यवहार में पढ़ाने वाले के लिए 'गुरु' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है। 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न प्रकार से की गई है–

क. **गरति सिञ्चति कर्णे ज्ञानामृतम् इति गुरुः।** अर्थात् जो शिष्य के कानों में ज्ञानरूपी अमृत का सिंचन करता है, वह गुरु है (गृ सेचने)

ख. **गिरति अज्ञानान्धकारम् इति गुरुः,** अर्थात् जो अपने सदुपदेशों के माध्यम से शिष्य के अज्ञानरूपी अन्धकारों को नष्ट कर देता है वह गुरु है **(गृ निगरने तुदादिः)।**

ग. **गारयते विज्ञापयति शास्त्ररहस्यम् इति गुरुः,** अर्थात् जो वेदादि शास्त्रों के रहस्य को समझा देता है, वह गुरु है **(गृ विज्ञाने चुरादिः)।**

वैदिक काल से ही भारतीय-संस्कृति में गुरु को विशेष स्थान प्राप्त है। ''गुरु से प्राप्त विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त करती है''–यह कथन था उपनिषद्कालीन शिष्य आचार्य सत्यकाम का। उपनिषदपद भी प्रायः इसी तथ्य का द्योतन करता है। 'उप', 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के योग से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। इसका अभिप्राय है शिष्य का गुरु के सान्निध्य में श्रद्धापूर्वक बैठ कर ज्ञान प्राप्त करना।

उपनिषद्काल में शिष्य गुरु के सान्निध्य में बैठ कर विनम्रतापूर्वक ज्ञानोपार्जित करते थे। कतिपय शिष्य उपनयन संस्कार से लेकर समावर्तन संस्कार पर्यन्त ही गुरुकुल में निवास कर अध्ययन किया करते थे और कतिपय कुछ अवधिपर्यन्त ही गुरुकुल में निवास कर गुरु से अपने प्रश्नों का समाधान प्राप्त कर गुरु से आज्ञा प्राप्त कर घर चले जाते थे।

उस समय गुरु तपोनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ एवं श्रोत्रिय हुआ करते थे। उनका आभामण्डल देदीप्यमान हुआ करता था। जिससे कि उन के आसपास का वातावरण स्वतः ही शुद्ध एवं पवित्र हो जाता था। इसका प्रभाव उन के शिष्यों पर अनायास ही पड़ता था।

उपनिषदों में प्रायः गुरु प्रत्यक्ष रूप में बैठ कर ही अपने शिष्यों को ब्रह्म, आत्मा, परा-अपरा-विद्या, सृष्टि एवं मोक्ष इत्यादि विषयों का ज्ञान देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। गुरु अध्यापन-कार्य अलग-अलग विधियों से किया करते थे।

www.thearyasamaj.org

यथा-कहीं वे विषय के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न करने के लिए प्रहेलिका विधि का आश्रय लेते थे तो कहीं छोटे-2 वाक्यों (सूत्रों) यथा-**अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि** की विस्तृत व्याख्या करते थे। कहीं शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर तो कहीं समन्वयविधि से अध्यापन कार्य करते थे।

तत्कालीन गुरु जहाँ एक ओर प्रायः विषय की विस्तृत व्याख्या करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं वहीं दूसरी ओर शिष्य को उसके प्रयोजन के आधार पर भी उपदेश देते थे। जिस शिष्य को विषय स्पष्ट नहीं होता था उसको सरल करके दृष्टान्त दे कर एवं उदाहरणों के माध्यम से समझा देते थे। जब तक शिष्य को विषय का पूर्णज्ञान नहीं होता था तब तक वह शिष्य को धैर्यपूर्वक समझाते रहते थे। हाँ यदि कोई योग्य शिष्य मिल गया तो उसे विषय कथन करते-2 विषय में इतना आत्मसात् हो जाते थे कि उन्हें शिष्य की उपस्थिति तक भूल जाती थी अर्थात् वे स्वगत-भाषण में ही खो जाते थे।

कभी-कभी वे कथा एवं आख्यानविधि से विषय का स्पष्टीकरण करते थे। कथा एवं आख्यान वस्तुतः विषय-विश्लेषण के ऐसे सशक्त माध्यम हैं जो अपनी रोचकता में पाठकों को बांध करके अपने अभीष्ट अर्थ एवं उद्देश्य की पूर्ति कर लेते हैं। कथा एवं आख्यान में अर्थ की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है। दूसरी ओर यास्क के मतानुसार ऋषियों को जब किसी मन्त्र के विशेष अभिप्राय की प्रतीति होती थी तब वे अन्य लोगों को उसका अर्थ सरलता से समझाने के लिए आख्यान का आश्रय लेते थे।[1]

वैदिक साहित्य में आख्यान का प्रयोग अनेक प्रकार से हुआ है यथा-कहीं उपदेश-कथन, कहीं कार्य-कारण भाव को स्पष्ट करने हेतु तो कहीं व्यंग्यकथा के प्रतिपादन करने में। रचना की सीमाओं को ध्यान में रखकर यहाँ केवल उपदेशात्मक आख्यान को ही लिया जा रहा है।

उपदेशात्मक आख्यान में उपदेश-कथन किया जाता है। धर्म-अधर्म अर्थात् मनुष्य को क्या करना चाहिए क्या नहीं – की शिक्षा दी जाती है। दूसरी ओर इन्हें नीति से सम्बद्ध आख्यान भी कहा जा सकता है। नीति विषयक आख्यान के अन्तर्गत 'सत्यकाम जाबाल'[2] के ही आख्यान को ले लीजिए-

एक बार सत्यकाम के मन में गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास कर अध्ययन करने की इच्छा जाग्रत हुई। उस समय गुरुकुल में प्रवेश पाने हेतु गुरु अपने शिष्यों से प्रवेश शुल्क इत्यादि ग्रहण नहीं करते थे। परन्तु गुरुकुल में निवास करवाने से पूर्व गुरु-शिष्य से कुल-गोत्र विषयक प्रश्न अवश्य पूछते थे।

---

1. निरुक्त, 10.10.46.
2. छा. उप. 4.4-9.

www.thearyasamaj.org

सत्यकाम आचार्य गौतम के पास जाता है तथा उनसे कहता है– हे गुरुवर! मैं आपके यहाँ ब्रह्मचारी हो कर रहना चाहता हूँ। गौतम उससे पूछते हैं– तुम्हारा गोत्र कौन-सा है ?, सत्यकाम कहता है– मैं किस गोत्र वाला हूँ उसे नहीं जानता हूँ। मैंने माता से पूछा था, तो उसने उत्तर दिया– पुत्र मैं तेरे गोत्र को नहीं जानती हूँ। मैंने अतिथियों की सेवा करके तुझे प्राप्त किया था। मैं जबाला हूँ तू सत्यकाम है। अत: तुम अपना नाम आचार्य को सत्यकाम जाबाल ही बतलाना।

इतनी बात श्रवण कर आचार्य गौतम समझ जाते हैं कि वह ब्राह्मण है। वे कहते हैं–ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं कर सकता है। अत: तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन संस्कार करता हूँ क्योंकि तुमने सत्य बोला है।

उपनिषद् काल में गुरुकुल में रहने वाले शिष्य अध्ययन के साथ-साथ आश्रम का सारा कार्य भी करते थे। यह वहां की दिनचर्या में शामिल हुआ करता था, यथा गुरु की सेवा करना, भोजन की व्यवस्था करना, यज्ञ हेतु वन से समिधाएँ एकत्रित करना, गायों की देख-भाल करना, उनको वन में चराने ले जाना इत्यादि। इस दृष्टि से उपनिषद् में सत्यकाम का प्रसंग बहुत रोचक है। सत्यकाम जब गौतम ऋषि के पास पहुँचता है तब वह उसका गोत्र इत्यादि पूछते हैं, वह स्पष्ट कहता है कि मैं अपना गोत्र नहीं जानता। गौतम तब उसके धैर्य की परीक्षा लेने के लिए उसे चार सौ दुबली गायें एकत्रित कर कहते है कि इन गायों को वन में घुमा लाओ अर्थात् गायों के पीछे-पीछे वन में जाओ। वह आज्ञाकारी, धैर्यवान् शिष्य सत्यकाम स्वयं ही प्रतिज्ञा करके गुरु जी से कहता है– "गुरु जी! जब तक ये गायें एक सहस्र नहीं हो जातीं तब तक मैं वन में ही निवास करूँगा।" वह गायों के एक सहस्र होने तक वन में ही निवास करता है। उसके इस धैर्य इत्यादि गुणों से देवता भी उस पर प्रसन्न हो जाते हैं। तब वायु देवता उस पर प्रसन्न होकर कृपा करने हेतु वृषभ के रूप में उसके समक्ष प्रकट होते हैं।

वृषभ उससे कहते हैं–'हे सत्यकाम! अब हम एक सहस्र हो गये हैं। हमें अब आचार्य कुल में प्रवेश करवा दो।' तत्पश्चात् वृषभ उससे बिना पूछे ही कहते हैं–'क्या मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद बतलाऊँ?' सत्यकाम कहता है– 'अवश्य बतलाईये।' वृषभ कहते हैं–'चारों दिशाओं अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशा वाला ब्रह्म का यह 'प्रकाशवान्' नाम का चार कलाओं वाला पाद है। जो 'प्रकाशवान्' इस गुण से युक्त इनकी उपासना करता है। वह स्वयं प्रकाशवान् होता है तथा प्रकाशवान् लोक पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। इसके पश्चात् वृषभ कहते हैं– ब्रह्म का द्वितीय पाद तुझे अग्निदेव बतलायेंगे।

सत्यकाम संध्या के समय अग्नि जलाकर समिधा हाथ में ले कर अग्नि की ओर मुख कर अग्नि के समक्ष बैठ जाता है– अग्निदेव प्रकट होकर उससे कहते हैं– 'हे सत्यकाम! मैं तुझे ब्रह्म

www.thearyasamaj.org

का द्वितीय पाद बतलाता हूँ। इस प्रकार अग्निदेव उसे बतलाते हैं कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा समुद्र कला वाला ब्रह्म का अनन्तवान् नामक द्वितीय पाद है। इससे 'अक्षय लोक' की प्राप्ति होती है, साथ ही बता देते हैं कि अगले पाद का ज्ञान तुम्हें 'हँस' देगा।

अगले दिन सत्यकाम पूर्ववत् ही संध्या के समय अग्नि जलाकर उसके पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाता है। कुछ समय पश्चात् आदित्य देवता हँस के रूप में उसके समीप आकर उसे तृतीय पाद का ज्ञान देते हुये कहते हैं कि –'अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा विद्युत कला से युक्त ज्योतिष्मान् नामक ब्रह्म का तृतीय पाद है इस की उपासना से मनुष्य ज्योतिष्मान् लोकों की प्राप्ति करता है। तुझे चतुर्थ पाद का ज्ञान मद्गु देगा।' इतना कह करके चले जाते हैं। उसी प्रकार संध्या के समय में जैसे ही वह अग्नि जला कर उसके समीप बैठता है तभी प्राण देवता मद्गु के रूप में आकर उसको ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश देते हैं, कहते हैं कि–'जो इस 'आयतनवान् नामक चतुर्थ पाद की उपासना करता है वह इस लोक में आयतनवान् होता है। ऐसा कह करके वे भी चले जाते हैं।

पूर्ण प्रतिज्ञानुसार सत्यकाम सहर्ष गायों के साथ आचार्यकुल में प्रवेश करता है। तपोनिष्ठ आचार्य गौतम उसे देखते ही प्रश्न करते हैं – 'सत्यकाम तू ब्रह्मवेत्ता-सा प्रतीत हो रहा है, कहो तुझे किसने उपदेश दिया है।' सत्यकाम विनम्रभाव एवं सत्यतापूर्वक कहता है– 'हे गुरुवर! मुझे मनुष्य से भिन्न अर्थात् देवताओं ने उपदेश दिया है। अब आप ही मुझे उपदेश दीजिए क्योंकि मैंने आप जैसे ही ऋषियों एवं आचार्यों से सुना है कि आचार्य से जानी गई विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त करती है।'[3] तदनन्तर आचार्य गौतम सत्यकाम को उसी सोलह कलाओं वाली विद्या का उपदेश देते हैं।

यह थी प्राचीन उपनिषत् कालीन शिक्षा-पद्धति। जो आज की पद्धति से एकदम विपरीत है। अगर प्राचीन पद्धति को आज के युग में तनिक भी ग्रहण कर लिया जाये तो न केवल गुरु-शिष्य की परम्परा से शिष्यों में शिष्यत्व ही आयेगा, अपितु उनकी शिक्षा से समाज को जो शिक्षा मिलेगी उससे यह भारत प्राचीन भारत के समान गौरवान्वित होकर शिक्षा का सिरमौर बन जायेगा।

–प्रवक्ता, गवर्नमैण्ट कालेज फॉर गर्ल्ज़, पटियाला।

3. श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति। (छा. उप. 4.9.)

www.thearyasamaj.org

ममत्व, मातृत्व और सतर्कता

–डॉ. जसवन्त राय सहगल

ममत्व शब्द संस्कृत की मम् धातु से बना है, जिसका अर्थ है मेरा या मेरे से सम्बन्धित। प्रत्येक गृहिणी का एक सपना होता है कि वह मां बने और उसे मां कहने वाला कोई उस का अपना हो, जिसको उसने नौ मास तक अपनी कोख में रख कर, अपने रस रक्त से पुष्ट कर, उचित समय पर भूमिष्ठ किया हो, अर्थात् जन्म दिया हो। उस बच्चे के जन्म के साथ ही ममत्व व मातृत्व का जन्म होता है और पुलकित व प्रफुल्लित होता है। तब वह स्त्री अपना पूरा प्यार,उस बच्चे पर उण्डेल देती है। उसकी देखभाल, लालन-पालन, खानपान, सम्भाल आदि में अपना सारा समय लगा देती है। बच्चे की एक आवाज़ या चीख उसे विचलित कर देती है। वह उसे दु:ख में नहीं देख सकती। यदि वह बच्चे से दूर भी हो, तो उसका ध्यान सदा बच्चे में ही रहता है। वह बच्चे की कुशलता व स्वास्थ्य के प्रति सदा सतर्क रहती है और उसके लिये कुछ भी करने के लिए तैय्यार रहती है। उसके भविष्य के बारे में सोच कर चिन्तित हो उठती है और कामना करती है उसके स्वास्थ्य व उज्ज्वल भविष्य की। यही है प्यार, मोह, ममत्व, अपनत्व, जो बच्चे के विकास के लिए परमावश्यक है। यह तभी संभव है जब स्त्री गृहलक्ष्मी या गृहिणी हो। उस का अपना व्यक्तिगत कोई Career न हो। ऐसी अवस्था में बच्चे को मां के साथ, अपने पिता का प्यार भी भरपूर मिलता है और बच्चा दोनों की छत्रछाया में विकसित होता है। ऐसे बच्चे भाग्यशाली होते हैं जिनको माता-पिता दोनों का प्यार मिलता है।

दूसरी ओर, जहां पति-पत्नी दोनों कामकाजी हों और वे दोनों अपने कैरियर के प्रति सजग हों और उसमें उन्नति कर आकाश को छूना चाहते हों, वहां भी स्त्री को मां बनने की चाह रहती है और समय पर मां बनती है किन्तु अपने कैरियर के कारण, बच्चे के लिये समय नहीं निकाल पाती। यद्यपि वह भी उसे प्यार करती है। ऐसी अवस्था में बच्चे के पालन-पोषण, देखभाल के लिए किसी अन्य स्त्री या किराए की धाय की आवश्यकता होती है। क्या वह स्त्री या धाय बच्चे की देखभाल, पालन-पोषण, खान-पान तथा स्वच्छता का ध्यान रख पाती है? क्या वह बच्चे के स्वास्थ्य व कुशलता के प्रति सजग है? क्या वह पूरा समय बच्चे को दे पाती है? क्या वह पूरा ध्यान बच्चे पर केन्द्रित रखती है। ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन का उत्तर सकारात्मक नहीं, परिणाम गम्भीर हो सकते हैं। बच्चे का Malnutrition (कम तथा अधूरा भोजन) के कारण, उसका दुर्बल व रोगी शरीर तथा अधूरा विकास। जहां स्त्रियां सरकारी नौकरी में हैं वहां उन्हें कई प्रकार की सुविधायें यथा मैटर्निटी लीव (Maternity Leave) बच्चे के पालन-पोषण के लिए अवकाश (5 वर्ष तक), कार्यालय में क्रेच आदि प्राप्त हैं और वे अपनी ड्यूटी करते हुये भी बच्चे के प्रति अपना कर्त्तव्य निभा सकती हैं। किन्तु जहां स्त्रियां अपने Career के प्रति अधिक सजग हैं और उन्हें आवश्यकता से अधिक समय अपनी कार्यशाला में बिताना पड़ता है वहां बच्चे के लिए उनके पास कोई समय नहीं रहता।

www.thearyasamaj.org

उचित समय पर, दो अढ़ाई वर्ष की आयु में बच्चे को किसी अच्छे प्लेस्कूल (Play School) में प्रविष्ट करा दिया जाता है। यद्यपि वहां बच्चों की उपस्थिति में उसे कुछ अच्छा लगता है। किन्तु वहां भी वह अपनी मां को भुला नहीं पाता। वहां तीन-चार घण्टे बिताने के बाद जब वह घर आता है तो उसे मां के स्थान पर वही धाय मिलती है, तो वह दुखी होता है और अवसाद में चला जाता है। कई बार, विद्रोही हो खाना-पीना छोड़ देता है और धाय के कोप का भाजन बनता है। समय बीतता जाता है। पाँच वर्ष की आयु में उसे किसी अच्छे स्कूल में प्रविष्ट कर, उत्तम शिक्षा की व्यवस्था कर दी जाती है। बच्चे की बढ़त के साथ उसकी रुचियां बदलने लगती हैं। उसे अब धाय की आवश्यकता नहीं। आरम्भ में उसे किसी Day Hostel में दिन बिताने की व्यवस्था कर दी जाती है और समय बीतने के साथ, वह अपना समय घर पर बिताना चाहता है। उसकी इच्छानुसार ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है।

समयान्तर से बच्चा बालावस्था से किशोरावस्था में पदार्पण करता है। उस समय उस की सोच व मानसिकता बदलने लगती है। उस समय बच्चे पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। यह समय तेरह से उन्नीस वर्ष की अवस्था के बीच का होता है, जिसे अंग्रेजी में Teens कहते हैं। यह समय जीवन का ऐसा दोराहा होता है जहां बच्चे का दिशानिर्देश होना आवश्यक होता है। अन्यथा उस के पथ-भ्रष्ट होने का भय रहता है।

मीडिया (प्रिन्ट, इलैक्ट्रोनिक-जिस में आयडियो-विज़ुयल सब सम्मिलित है) में दृश्यों का बच्चे के मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है और कुसंगति के कारण वे भटक जाते हैं। उस के माता-पिता अपनी व्यस्तता के कारण, उस पर कोई ध्यान नहीं दे पाते और उसे संतुष्ट व शान्त रखने के लिए अपने धन का सहारा लेते हैं और उसे आवश्यकता से अधिक धन देते हैं, जिसे वह अपनी इच्छानुसार अपनी रुचियों पर खर्च कर सके और यह जानने का कभी प्रयत्न नहीं करते कि वह किस प्रकार की वस्तुओं पर खर्च करता है? दिन में क्या करता है? कौन-सी क्रीड़ाओं में भाग लेता है? उसकी संगति कैसे बच्चों के साथ है? क्या वह अपनी पढ़ाई में चुस्त-दरुस्त है? क्या उस का रिपोर्टकार्ड संतोषजनक है? क्या उस का व्यवहार परिवार में सामान्य है, घर में अपने क्रोध का प्रदर्शन तो नहीं करता? क्या वह उचित समय पर सोता और जागता है? क्या वह अधिक समय T. V. व कम्प्यूटर (Video Games & Face Book) पर तो खर्च नहीं करता? क्या वह किसी व्यसन में तो नहीं पड़ गया? क्या वह अपनी इच्छाओं को मूर्तरूप देने के लिए समाज-विरोधी गतिविधियों में भाग तो नहीं ले रहा? क्या वह उचित समय पर अपना भोजन करता है? क्या वह खाद्याखाद्य का ध्यान रखता है? क्या वह अपना अकेलापन दूर करने के लिए गुटखा, मद्य या ड्रग्स का सहारा तो नहीं ले रहा?

ऐसे बच्चे अपने माता-पिता के लिए समस्या (Problem) बन जाते हैं। वे उद्दण्ड, दुस्साहसी एवं सुस्त (Lethargy) हो जाते हैं। उन की स्मरणशक्ति मंद पड़ जाती है और वे "कुछ भी" करने के लिए तैय्यार रहते हैं; किन्तु एक विशेष मूल्य पर। उन के मन में किसी के प्रति दया नहीं होती और न ही सम्मान की भावना। भले ही वे उनके माता-पिता ही क्यों न हों। वे अपने को राजकुमार, सर्वशक्तिमान् एवं समाज से ऊपर समझने लगते हैं और चाहते हैं कि सब उन का सम्मान करें। उन का रहन-सहन एवं खर्च एक विशेष सीमा से अधिक होता है। माता-पिता

www.thearyasamaj.org

द्वारा दिया गया धन, उन की छोटी-मोटी आवश्यकताओं में पूरा हो जाता है, किन्तु दुर्व्यसनों में पड़ने के कारण अन्य खर्च पूरे नहीं होते और प्यार न मिलने के कारण, अपने बढ़े हुए खर्च को पूरा करने के लिए, वे समाजविरोधी गतिविधियों यथा लूट-खसूट, चोरी, डाका, अपहरण कर फिरौती प्राप्त करना, सुपारी, हत्या आदि में लिप्त हो जाते हैं। कभी किसी लड़की का बलात्कार भी कर देते हैं। जब ये तथ्य माता-पिता के सामने आते हैं, तो बहुत देर हो चुकी होती है। उस अवस्था से पूर्वावस्था में आना लगभग असम्भव होता है। यदि बच्चे को ड्रग्स लेने की आदत हो गई है तो स्थिति और भी भयावह होती है। परिणाम शुभ नहीं होता। बहुधा उसकी मृत्यु हो जाती है अथवा वह आत्महत्या कर लेता है और यदि उसे De-Addiction की सुविधा आरम्भ में ही प्राप्त हो जाये, तो थोड़े सुधार की आशा की जा सकती है।

इस का श्रेय जाता है-हमारी जीवनशैली, स्कूली-शिक्षा व्यवस्था तथा मीडिया (प्रिन्ट व इलैक्ट्रोनिक, जिसमें आयडियो व विजुयल भी सम्मिलित है) को। मीडिया (टी. वी., इन्टरनैट, फेसबुक, सिनेमा आदि) में सब कुछ अच्छा, बुरा दिखलाया जाता है और उस का प्रभाव बच्चे के मन-मस्तिष्क में अंकित हो जाता है और वे अपनी अपरिपक्व बुद्धि के कारण उन दृश्यों को मनोरंजन एवं सत्य समझते हैं और उन के विचार मलिन हो जाते हैं और वे कई दुर्व्यसनों से ग्रस्त हो जाते हैं। कई आर, उन दृश्यों को देख कर, वैसे ही स्टंट करने का प्रयास कर हानि उठाते हैं और कभी-कभी उन प्रक्रियाओं से मृत्यु भी हो जाती है। स्मरण रहे कि मीडिया में दिखाये गये दृश्यों का हमारे वास्तविक जीवन से कुछ लेना-देना नहीं होता। वे मात्र मनोरंजन के नाम पर दिखाये जाते हैं।

आज हमारे बच्चे हम से अधिक समझदार, बुद्धिमान् एवं चतुर हैं। किन्तु खेद से लिखना पड़ता है कि उन्हें नैतिकता (Ethics) या नैतिक मूल्यों (Moral Values) का कोई ज्ञान नहीं। यही कारण है, उन के पथभ्रष्ट होने का। परिणामतः उन के मन में प्रसन्नता का अभाव रहता है। सदा भय, चिन्ता, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, हिंसा आदि के भाव बने रहते हैं और वे अवसाद से ग्रस्त हो जाते हैं। कई बार, अपने को संसार में अकेला और हताश समझने लगते हैं। उनका का किसी कार्य में मन नहीं लगता और किसी छोटी-मोटी असफलता होने पर अथवा आपसी कहा-सुनी होने पर आत्महत्या की ओर प्रेरित हो जाते हैं अथवा दूसरे की हत्या कर देते हैं और माता-पिता को पता भी नहीं चलता।

ऐसा क्यों होता है, क्योंकि उन्हें नैतिक शिक्षा नहीं दी गई। नैतिक मूल्यों का ज्ञान नहीं। धर्म के प्रति रुचि नहीं। आपस में भ्रातृभाव नहीं। पारिवारिक सम्बन्धों को जाना नहीं। अपनी सभ्यता-संस्कृति से प्रेम नहीं। भगवान् में श्रद्धा-विश्वास नहीं। कानून का डर नहीं।

सारांश कि हमें केवल बच्चों को जन्म ही नहीं देना होता, अपितु उन्हें शक्तिशाली, सुसंस्कृत, सुशिक्षित एवं सभ्य नागरिक बनाना होता है। जो परिवार व समाज के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत कर सकें और देश के उत्थान में योगदान दे सकें। इस के लिए माता-पिता दोनों को अथवा एक को बच्चों पर पूरा ध्यान देना होगा, तभी कुछ सुधार की आशा हो सकती है।

— सेवा सदन, C–5A–254, जनकपुरी, नई दिल्ली।

www.thearyasamaj.org

काव्यस्वरूप : (आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में)

–डॉ. (श्रीमती) ऋतुबाला

काव्यशास्त्र के सुदीर्घकालीन इतिहास में भरतमुनि से लेकर आजतक काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अपनी–2 मान्यता के अनुसार काव्य–लक्षण प्रस्तुत किये तथा कर रहे हैं। आचार्य भामह के अनुसार 'शब्द और अर्थ का सहभाव'' ही काव्य है और वह गद्य तथा पद्य भेद से दो प्रकार का है।[1] आचार्य दण्डी ने चमत्कृत अर्थ से पूर्ण पदावली, शब्द–समूह अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों को काव्य का शरीर माना है।[2] आचार्य वामन ने गुण तथा अलङ्कार से युक्त शब्दार्थ को काव्य माना है।[3] आचार्य रुद्रट ने लगभग भामह के पक्ष को स्वीकार करते हुए शब्द और अर्थ को काव्य माना है।[4] आचार्य आनन्दवर्धनाचार्य ने सहृदय–हृदयाह्लादक शब्दार्थ को काव्य कहा है।[5] आचार्य कुन्तक ने शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्द तथा अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न कवि–व्यापार से शोभित काव्य-तत्त्वज्ञों को आनन्दित करने वाले काव्य में विशेष रूप से स्थित सहभाव से युक्त शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य कहा है।[6] आचार्य मम्मट ने गुणयुक्त, अलङ्कार सहित परन्तु कहीं–2 अलङ्कार रहित शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है।[7] आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है।[8] पण्डित राज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है।[9]

अर्वाचीन मत–

अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों ने भी प्राचीनाचार्यों के समान अपनी–2 मौलिक काव्यशास्त्रीय कृतियों में काव्यलक्षण पर गम्भीरता से विचार किया है–

1. **श्रीपादशास्त्री हसूरकर–**

आपने आचार्य मम्मट तथा आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षणों को ही अपनी कृति में उद्धृत किया है।[10]

2. **श्रीकौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर–**

सोमेश्वर के अनुसार सहृदय–हृदयाह्लाद–कारक शब्द और अर्थ ही काव्य होता है। इन्होंने आचार्य आनन्दवर्धनाचार्य, आचार्य विश्वनाथ

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा। – काव्यालङ्कार–1.16.
2. काव्यादर्श–1.10.
3. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। –काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः–1.1.
4. शब्दार्थौ काव्यम्। काव्यालङ्कार–2.1.
5. ध्वन्यालोक–1.1 की वृत्तिः।
6. वक्रोक्तिजीवित–1.7.
7. काव्यप्रकाश–1.4.
8. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। –साहित्यदर्पण–1.3.
9. रसगङ्गाधर–1.7.
10. साहित्यमञ्जरी–सामान्य प्रकरण।

www.thearyasamaj.org

तथा पण्डितराज जगन्नाथ की परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने मत का प्रस्तुतीकरण किया है।[11]

3. **सर्वेश्वर कवि –**

सर्वेश्वर कवि रचित साहित्यसार नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थ है। जिसमें मृदु पदों से युक्त, रस और अलङ्कार से समन्वित कवि की वाणी को ही काव्य कहा गया है।[12]

4. **आचार्य छज्जूराम शास्त्री–**

आचार्य छज्जूराम शास्त्री ने रमणीयता युक्त शब्दार्थ-युगल को काव्य माना है। आचार्य ने अपने काव्यलक्षण में भामह प्रतिपादित काव्यलक्षण की परम्परा का पोषण किया है।[13]

5. **आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी–**

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी ने काव्यलक्षण करते हुए बतलाया है कि जो पूर्णतया गुणों से युक्त भावना नामक नववधू है, यही अलङ्कारयुक्ता होने पर कविता का रूप धारण करती है। काव्य का जो प्रभाव सामाजिक चेतना पर पड़ता है, वह रस होता है और वह काव्य का धर्म नहीं कहा जा सकता क्योंकि काव्य और सामाजिक ये दानों भिन्न रूप वाले होते हैं। अत: कवि का मानना है कि ज्ञान को चित्तवृत्ति रूप मानने पर भी रसक्षति नहीं होगी क्योंकि मम्मट इत्यादि कुछ आचार्य चित्तवृत्ति को रस मानते हैं।[14] अत: आचार्य ने अपने तर्कों के द्वारा सिद्ध किया है कि काव्य ज्ञान है, अलङ्कार उसकी आत्मा है। इस प्रकार कवि ने काव्य को वृष्टि, कवि को मेघ, रस को फसल तथा सहृदयों को चातकचञ्चु बतलाते हुए कहा है कि हमें वृष्टि के विज्ञान तक सीमित रहना चाहिए।[15]

6. **डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा–**

डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा ने कहा कि शब्दार्थगत सत्य के रमणीय प्रतिपादन को ही काव्य मानना चाहिए। यहाँ सत्य की विशेषता है।[16]

7. **पं. गिरिधर लाल व्यास शास्त्री-**

इन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषाओं को कारिका में निबद्ध कर गुण सहित, दोष रहित शब्दार्थयुगल को काव्य माना है।[17]

8. **प्रो. शिव उपाध्याय जी –**

आपने अपने ग्रन्थ साहित्यसन्दर्भ की 25 कारिकाओं में काव्य के स्वरूप पर विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है। काव्य का विवेचन करते हुए कहा है कि 'कवृ धातु' से निष्पन्न काव्य शब्द कवि कर्म में प्रसिद्ध है। उस में शब्द, अर्थ, गुण,

---

11. तस्मात् सहृदयाह्लादकरौ शब्दार्थौ काव्यमिति लघुभूतं, निष्कृष्टश्च।
– साहित्यविमर्श-द्वितीय परिच्छेद
12. सदा मृदुपदन्याससरसालङ्कारा रसावहा:।
– साहित्यसार-1.1.
13. साहित्यबिन्दु-1.5.
14. काव्यालङ्कार कारिका, 11.230-234
15. काव्यालङ्कारकारिका, 11.235-253
16. शब्दार्थवर्ति सत्यस्य, सुन्दरं प्रतिपादनम्।
काव्यस्य लक्षणं ज्ञेयम्, सत्यस्यात्र विशेषता॥
– काव्यसत्यालोक-5. 64.
17. अभिनवकाव्यप्रकाश-1. 32-122.

www.thearyasamaj.org

अलङ्कार, वृत्तियां, औचित्य, रीति, वक्रोक्ति आदि की उपस्थिति तथा दोष का अभाव रहता है। किञ्चिद् दोष की उपस्थिति होने पर भी वह काव्य ही कहा जायेगा। औचित्य, रीति इत्यादि काव्य के कारक स्वरूप होते हैं।[18]

9. डॉ. रमाशङ्कर तिवारी –

आपने बतलाया कि काव्य अर्थसंस्कार-युक्त, व्यक्तिमुदा तथा सर्वजनीनता को धारण करने वाला होता है।[19]

10. डॉ. शङ्करदेव अवतरे–

आचार्य अवतरे ने प्राचीन आचार्यों के काव्यलक्षण का विवेचन करते हुए चमत्कारात्मक शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य कहा है।[20]

11. प्रो. अमरनाथ पाण्डेय–

प्रो. अमरनाथ पाण्डेय के मत में शब्द, अर्थ-भाव, भाषा, रचना-प्रक्रिया तथा भावाभिव्यक्ति आदि से युक्त काव्य लोक-कल्याणकारी होता है।[21]

12. प्रो. रामप्रताप वेदालङ्कार –

प्रो. रामप्रताप वेदालङ्कार ने रस भाव से चमत्कारी, उत्तम प्राणपेशल, सुन्दर अलौकिक आनन्द सन्दर्भयुक्त ऐसे शब्दार्थ को काव्य माना है **जो सहृदयों के हृदय को चाकचक्य अर्थात्** आह्लादित कर दे। वही चितिरूप चमत्कार काव्य का सर्वस्व है।[22]

13. प्रो. अभिराज राजेन्द्रमिश्र–

प्रो. अभिराज राजेन्द्रमिश्र ने अलङ्कारवादी आचार्यों के मत को अपने मत में आत्मसार कर, अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय आचार्यों का खण्डन-मण्डन करते हुए अपने मत को उपन्यस्त करते हुए ऐसे लोकोत्तर आख्यान को काव्य माना है जो रसगर्भ हो, स्वभावज तथा इहलोक-परलोक दोनों में यश:प्राप्तिरूपी प्रयोजन वाला हो। उनके मत में शब्द अर्थ की समष्टि ही काव्य का पर्याय है।[23]

संक्षेपत: लिखा जा सकता है कि इस प्रकार अर्वाचीन संस्कृत काव्य-शास्त्रीय-परम्परा के आचार्यों ने काव्यस्वरूप निर्धारण में अपनी-2 प्रतिभा का परिचय देते हुए काव्यस्वरूप का निर्धारण करने का प्रयत्न किया है। किन्तु इसमें वे कहां तक सफल हो पाये हैं इसके बारे में कुछ कहना मुश्किल है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसा नवीन कार्य आगे के विद्वानों के लिए मार्ग प्रशस्त तो करता ही है।

– असिस्टैंट प्रोफैसर, वी. वी. बी. आई. एस. एवं आई. एस. (पंजाब यूनिवर्सिटी), साधु आश्रम, होशियारपुर-146021

18. साहित्यसन्दर्भ, काव्यस्वरूपविमर्श, 1.25.
19. काव्यतत्त्वविवेक, काव्यनिरूपण, कारिका, 1-12.
20. अभिनवकाव्यशास्त्रम्, 2.68-94.
21. काव्यसिद्धान्तकारिका, कारिका, 14, 82, 73.
22. चमत्कारविचारचर्चा, 3.102-113.
23. अभिराजयशोभूषणम्, प्रथम अंश, परिचयोन्मेष, कारिका-34-37.

www.thearyasamaj.org

पौराणिक योग-परिभाषा विमर्श

–श्री अजय कुमार

योग शब्द युजिर् धातु से घञ् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। पाणिनि के गणपाठ में तीन युज् धातु हैं। दिवादिगण की युज् धातु का अर्थ है– समाधि। हमारा आलोच्यमान योगशब्द इसी धातु से बना है। इसके अतिरिक्त और दो युज् धातु हैं। एक रुधादिगण में जिसका अर्थ संयोग होता है और दूसरी चुरादिगण में जिसका अर्थ होता है–संयम। अब विचारना यह है कि ये दोनों धातु भी क्या हमारे योग शब्द की प्रकृति हो सकती हैं या नहीं ? समाधि बोधक युज् धातु से ही हमारा योग-शब्द सम्बद्ध है दूसरी से नहीं। पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है।[1] यहाँ निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों को रोकना है। परन्तु इस परिभाषा पर आपत्ति उठाते हुए कहा गया है कि चित्तवृत्तियों को दुर्बल या क्षीण किया जा सकता है, परन्तु पूर्ण निरोध सम्भव नहीं। वृत्तियों के प्रवाह का नाम ही चित्त है और चित्तवृत्तियों के पूर्ण निरोध का मतलब होगा–चित्त के अस्तित्व का ही लोप तथा चित्ताश्रितभूत समस्त स्मृतियों और संस्कारों का नाश। निरुद्धावस्था में कर्म तो हो ही नहीं सकता और उस अवस्था में कोई संस्कार भी नहीं पड़ सकता, स्मृतियाँ नहीं बन पातीं, जो समाधि से उठने के बाद कर्म करने में सहायक होती हैं।[2]

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने **योगः समाधिः**[3] – कहकर योग को समाधि के रूप में ग्रहण किया है, जिसका अर्थ है समाधि द्वारा सच्चिदानन्द का साक्षात्कार। डॉ. राधा-कृष्णन् के मत में योग का तात्पर्य क्रियाविधि है।[4] याज्ञवल्क्य के अनुसार जीव तथा परमात्मा के संयोग की अवस्था ही योग है।[5] श्रीमद्भगवद्-गीता के अनुसार योगाभ्यास से निरुद्ध चित्त जिस अवस्था में उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में परमात्मा के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा का साक्षात् करता है, वही योग है।[6] यहाँ भी योग का अर्थ समाधि आता है।

पुराणों में भी योग की परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं जिनकी पातञ्जलयोगदर्शन के साथ समानता तथा नवीन ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जैसे आत्मज्ञान के प्रयत्नभूत यम, नियम आदि की

1. योग: चित्तवृत्तिनिरोध:। यो. द.-1/2.
2. हिन्दी विश्वकोश-भाग-9, पृ. 496.
3. योगदर्शन व्यासभाष्य-पृ. 2.
4. भारतीय दर्शन, द्वितीय खण्ड, पृ. 332.
5. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोरिति।
   –सर्वदर्शनसंग्रह, 15.
6. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
   तत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
   –श्रीमद्भगवद्गीता, 6/20.

www.thearyasamaj.org

अपेक्षा रखने वाली मन की विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्म के साथ संयोग होना ही योग कहलाता है।[7] बहिर्गामिनी उच्छृंखल इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से हटाकर इनकी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी करना योग है।[8] इन दोनों पुराणों में भी पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार ही योग का लक्षण दिया गया है। यहां पर भी ब्रह्म के साथ संयोग होना अर्थात् योग का समाधि अर्थ ही लिया है। परन्तु पुराणकारों ने चित्त का अर्थ इन्द्रियाँ लिया है। इसका स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवतपुराण की योगपरिभाषा में होता है। अग्निपुराण में चित्त की एकाग्रता को ही योग कहा है और चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है, जो जीवात्मा और परमात्मा से परे रहा करता है।[9] पातञ्जलयोगदर्शन के समान ही यहाँ पर योग का लक्षण दिया है लेकिन चित्त की एकाग्रता से लक्षण में नवीन ज्ञान का समावेश हो रहा है। मार्कण्डेयपुराण में ज्ञान के द्वारा वैराग्य की उत्पत्ति होती है तथा वैराग्य के द्वारा दुःखों का नाश होता है। इस प्रकार दुःखों का नाश हो जाने पर ज्ञान के द्वारा ही योग प्राप्त होता है जो मोक्ष को देने वाला होता है।[10] पुराणकार ने योग का अर्थ सम्यक् ज्ञान माना है। अतः यहाँ पर योगदर्शन में नूतन ज्ञान की उत्पत्ति होती है। लिंगपुराण में भी मार्कण्डेयपुराण के अनुसार कहा है, 'आत्मा में उद्भूत सभी विषयों का ज्ञान ही योग है। केवल योग की कृपा से ही मन की एकाग्रता सम्भव होती है।'[11] यहाँ पर भी ज्ञान को ही योग माना गया है।

स्कन्दपुराण में आत्मा का मन के साथ संयोग होने का नाम ही योग है तथा प्राणवायु और अपानवायु के संयोग को भी योग कहा गया है।[12] आत्मा का मन के साथ संयोग चित्त की एकाग्रता है। अग्निपुराण भी चित्त की एकाग्रता का ही समर्थन करता है। प्राणवायु और अपानवायु का संयोग चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर हो जाता है। अतः यह परिभाषा पातञ्जलयोगदर्शन की परिभाषा का समर्थन कर रही है। कूर्मपुराण में पतञ्जलि के योगलक्षण को कुछ विस्तार देकर नयी भंगिमा देने की चेष्टा की गई है। जहाँ पतञ्जलि ने चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध

---

7. आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥
–विष्णुपु., 6/7/31.

8. आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मनइन्द्रियेशम्।
वर्त्मनि मात्राधिष्णां च सूतं, सत्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम्॥ – भा. पु. 7/15/41.

9. ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रेकचित्तता।
चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः॥
– अग्निपु., 372/1, 2.

10. निर्ममत्वं सुखायैव वैराग्याद्दोषदर्शनम्।
ज्ञानादेव च वैराग्यं ज्ञानं वैराग्यपूर्वकम्॥
मुक्तिर्योगात्तथा योगः सम्यग्ज्ञानान्महीपते॥
–मार्क. पु.–36/ 4, 2.

11. सर्वार्थज्ञाननिष्पत्तिरात्मनो योग उच्यते।
एकाग्रता भवेच्चैव सर्वदा तत्प्रसादतः॥
– लिंगपु., 8/3.

12. संयोगस्त्वात्ममनसोर्योग इत्युच्यते बुधैः।
प्राणापानसमायोगो योग इत्यपि कैश्चन॥
–स्कन्दपु., काशी ख., 41/48.

www.thearyasamaj.org

को योग कहा है। वहां पुराणकार के अनुसार योग की सिद्धि तभी होती है जब चित्त में उठने वाली समस्त वृत्तियों को रोक कर उसे सर्वात्मना परमात्मा में केन्द्रित कर दिया जाता है।[13] इस प्रकार योग में भक्ति का समावेश है। इसके संकेत योगसूत्रों में भी मिलते हैं।[14] भागवतकार ने योग और भक्ति के इस संयोग को और दृढ़ता प्रदान की है। भक्तिमय पुराण के रचयिता के लिए यह बहुत स्वाभाविक था।[15] देवीभागवत-पुराण में योग न तो आकाश, न पृथ्वी, न पाताल में ही है, अपितु योगविशारद व्यक्तियों के अनुसार जीव और परमात्मा का ऐक्य ही योग है।[16] यह परिभाषा भी अग्नि और स्कन्दपुराणों का ही समर्थन करती है। यहाँ पर भी पातञ्जलयोगदर्शन की तरह योग का समाधि अर्थ ही प्रतीत होता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पुराणों में योग के विभिन्न अर्थ समाधि, भक्ति, ज्ञान आदि प्राप्त होते हैं। यह पातञ्जल योगदर्शन की परिभाषा के अनुसार ही है, चाहे वह समाधि, भक्ति, ज्ञान के रूप में कैसे भी हों, पुराणों और योगदर्शन की परिभाषा में एकसमान हैं। पुराणों में भक्ति और ज्ञान को साधन के रूप में माना गया है, लेकिन परमोद्देश्य समाधि ही है।

– शोध छात्र, वी. वी. बी. आई. एस. एण्ड आई एस. (पी. यू.),
साधु आश्रम, होशियारपुर।

---

13. मय्येकचित्तता योगो वृत्त्यन्तरनिरोधतः।
    –कूर्मपु., 2/11/12.
14. ईश्वरप्रणिधानाद् वा, योगसू.-1/13.
    तस्य वाचकः प्रणवः, वही, 1/28.
15. तस्मात् सर्वात्मना तात मनो निगृहाण धिया।
    मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥
    –भा. पु.-11/ 23/ 6.
16. न योगो नभसः पृष्ठेन न भूमौ न रसातले।
    ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥
    – देवीभा., 7/35/2.

www.thearyasamaj.org

पुस्तक-समीक्षा

काव्यचमत्कार : (काव्यशास्त्रम्)

लेखक : आचार्य रामप्रताप
प्रकाशक : हाइब्रो पब्लिकेशन्ज़
बाड़ी ब्राह्मणां, जम्मू
पृष्ठ : 313
मूल्य : 400/- रुपये।

पुराणानां काव्यरूपताया विवेचनम्, पुराणविमर्शः, साहित्यसुधासिन्धुः, चमत्कार-विचारचर्चा, मम्मटोत्तरयुग में भारतीय काव्य-शास्त्र में नूतन अवधारणाएं, त्रिविधा काव्य-समीक्षा, भल्लट शतक, राजेन्द्रकर्णपूर, ऊर्मिका आदि अपनी कृतियों से साहित्य-जगत् के मूर्धन्य विद्वानों में स्वयं को प्रतिष्ठित कर चुके आचार्य रामप्रताप ने प्रस्तुत काव्यचमत्कार ग्रन्थ में "भरत से लेकर आधुनिक-काल तक संस्कृतकाव्य-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में चमत्कार सम्बन्धी विचारों का चिन्तन तथा अनुचिन्तन जो अनवरतरूप से होता आ रहा था, उसी को सुनियोजितरूप में प्रस्तुत किया है।"

आचार्य क्षेमेन्द्र से पूर्व संस्कृत-काव्यशास्त्र में रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति इन पाँच काव्यसम्प्रदायों की स्थापना हो चुकी थी। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में औचित्यसम्प्रदाय तथा कविकण्ठाभरण में चमत्कारसम्प्रदाय प्रतिष्ठापित किया। संस्कृत-काव्यशास्त्र के समीक्षक औचित्य सहित छः काव्यसम्प्रदायों को तो मान्यता देते रहे हैं। किन्तु सातवें चमत्कारसम्प्रदाय को समुचित महत्त्व नहीं दे पाये। आचार्य रामप्रताप ने काव्यचमत्कार नामक अपनी कृति में चमत्कार-सम्प्रदाय को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनकी मान्यता है कि चमत्कार ही काव्य का प्राणतत्त्व है। यथा-

येनाभिव्यज्यते काव्ये लौकिकी चारुचर्वणा।
विस्मयगर्भश्चमत्कारः स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
(काव्यचमत्कारः, पञ्चमोल्लासः, 123)

आचार्य ने अपने काव्यचमत्कार ग्रन्थ को दो खण्डों मे विभक्त किया है। प्रथमखण्ड ही अभी तक प्रकाशित हुआ है। इसमें विषयावतरणिका एवं एक विस्तृत भूमिका के अतिरिक्त पाँच उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्य और चमत्कार का स्वरूप, द्वितीय उल्लास में काव्यपुरुषचरित और काव्यपुरुषवंशानुचरित, तृतीय उल्लास में काव्यकर्ता कवि, काव्य-समीक्षक काव्यकार, देवियाँ, देवता एवं काव्यशास्त्री आचार्य (कश्मीर देशवासी), चतुर्थ उल्लास में काव्यप्रयोजन एवं काव्यहेतु और पञ्चम उल्लास में काव्य-लक्षण, काव्य का सामान्य लक्षण, काव्य के विशेष लक्षण एवं काव्य-रसादि के विषय में अतिरिक्त कथन,

www.thearyasamaj.org

काव्य में चमत्कार की काव्यात्मता और काव्य-भेद विषयों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

आचार्य ने मूल ग्रन्थ संस्कृत-कारिकाओं में निबद्ध किया है। किन्तु अध्येताओं की सुविधा के लिए उन्होंने हिन्दी अर्थ और विशेष विचार भी साथ ही दिया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक उल्लास के अन्त में पादटिप्पणियाँ दी गई हैं जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता और भी अधिक हो गई है।

मेरी दृष्टि में काव्यस्वरूप के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। विद्वान् आचार्य ने काव्यस्वरूप सम्बन्धी भरत से लेकर आज तक के प्रायः सभी मुख्य आचार्यों के विचार बड़े ही स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किये हैं।

आशा है आचार्य का यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र-जगत् में यथेष्ट सम्मान प्राप्त करेगा और इसका द्वितीय-खण्ड भी शीघ्र ही साहित्य-शास्त्रियों के अध्ययन के लिए सुलभ होगा।

बुधो रामप्रतापोऽयं वेदालङ्कारतां गतः।
कृत्वा काव्यचमत्कारं साहित्यालङ्कृतिङ्गतः॥

– (डॉ.) जगदीशप्रसाद सेमवाल,
आदरी प्रोफैसर,
वि. वै. शो. संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर।

www.thearyasamaj.org

विविध समाचार

भारत- संस्कृत-अभियानम् द्वारा संस्कृत-संस्कृति चेतना का प्रचार –

प्रतिवर्ष की भाँति श्रावणी पूर्णिमा से पूर्व दिवस 20 अगस्त, 2013 को भारत-संस्कृत-अभियानम् द्वारा पंजाब प्रदेश में "संस्कृत-दिवस-समारोह" शृंखला का उद्घाटन किया गया। पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा संचालित संस्कृत-अनुशीलन-केन्द्र, साधु आश्रम, होशियारपुर में पहला समारोह प्रो. तरसेम महाजन जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। मुख्यातिथि के रूप में दिव्य- ज्योति-जागृति संस्थान की साध्वी बहिनें उपस्थित थीं। इस अवसर पर संस्थान में अतिथियों तथा गण्यमान विशिष्ट जनों के द्वारा छात्रों के लिए मनोरंजन कक्ष का उद्घाटन किया गया तथा छात्रों ने गीत-संगीत तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये। इस अवसर पर संस्कृत-सेवी जनों का सम्मान भी किया गया। मुख्यातिथि साध्वी जी ने संस्कृत-भाषा में वक्तव्य देते हुए कहा कि संस्कृत-भाषा आज भी व्यवहार में आ रही है और दिव्यज्योति जागृति संस्थान इस मिशन में अपना योगदान कर रहा है। सभा का संचालन डॉ. नरसिंहचरण पण्डा ने तथा अतिथियों का धन्यवाद डॉ. (श्रीमती) रितु बाला ने किया।

संस्कृत-संस्कृति-अभियान का मुख्य आयोजन 21 अगस्त को विद्यामन्दिर स्कूल की प्रबंध-समिति द्वारा किया गया। जिसके मुख्यातिथि प्रो. ओम प्रकाश उपाध्याय, कुलपति, गुरु रविदास आयुर्वेद विश्वविद्यालय, होशियारपुर थे। इस अवसर पर नगर के अनेकानेक संस्कृत-प्रेमी तथा समाजसेवी उपस्थित थे। सभी का स्वागत प्रबन्ध-समिति के सचिव श्री अनुराग सूद ने किया। प्रिंसिपल जगतावली सूद स्मारक संस्कृत-सेवी सम्मान इस वर्ष डॉ. भूषण लाल शर्मा, करतारपुर, डॉ. हरवंस लाल बाबा मुक्तसर, श्रीमती सुनीता शर्मा, होशियारपुर, मौलवी कमरुल हक शास्त्री, कादियां को दिया गया। विद्यामन्दिर की छात्राओं ने गीतागान किया। इस अवसर पर दिव्यज्योति संस्थान के साधु समाज तथा साध्वी बहिनों, मुख्यातिथि प्रो. उपाध्याय तथा अध्यक्षा श्रीमती राकेश सूद को सम्मानित किया गया। सभी की ओर से यह मांग रखी गई कि पंजाब में संस्कृत-अकादमी की स्थापना की जाए तथा सरकारी स्कूलों में संस्कृत को बहाल किया जाये।

इसी शृंखला में मानवता मन्दिर में स्थित शिवदेवराव हाई स्कूल, डी. ए. वी. कॉलेज ऑफ ऐजुकेशन तथा उर्मिला देवी आयुर्वेद महाविद्यालय में भी भारत-संस्कृत-अभियानम् के तत्त्वावधान में भव्य कार्यक्रम सम्पन्न हुए। जनचेतना में संस्कृत को प्रतिबद्ध करने के उद्देश्य से ये सभी प्रयास सराहनीय रहे।

कम सोने से जल्दी बढ़ता है मोटापा –

स्टाकहोम – यदि आपको नींद नहीं आती अथवा आप पूरी नींद न लेकर कम सोते हैं, तो ऐसी स्थिति में लोगों में मोटापा बहुत जल्दी बढ़ता है। इस संबंध में एक अध्ययन के अनुसार नींद की कमी के कारण व्यक्ति में थकान और चिड़चिड़ापन उत्पन्न हो जाता है तथा उसकी कमर का आकार भी बेडौल हो जाता है।

www.thearyasamaj.org

संस्थान-समाचार

पद्मभूषण स्व. आचार्य डॉ. विश्वबन्धु जयन्ती–

दिनांक 30 सितम्बर, 2013 को परम पूज्य पद्मभूषण आचार्य डॉ. विश्वबन्धु जी की जयन्ती प्रातः 10 बजे मनाई जायेगी। इसमें हवन-यज्ञ के पश्चात् सभी कर्मिष्ठों और छात्रों को मिठाई तथा फल प्रसाद के रूप में वितरित किए जाएंगे।

दान–

श्री कर्मवीर बंसल,
साकेत, नई दिल्ली। 2000/-

श्री वीरेन्द्र कुमार शर्मा, मंगलभवन,
सिविल लाईन्स, होश्यारपुर। 600/-

जस्टिस राजेन्द्रनाथ मित्तल,
सफदरजंग एन्कलेव, नई दिल्ली 501/-

श्रीमती राजरानी,
हरगोबिन्द नगर, लुधियाना। 500/-

आचार्य ऋषिराम-स्मारक-सेवा-निधि–

श्री कर्मवीर बंसल,
साकेत, नई दिल्ली। 7000/-

श्री कर्मवीर बंसल सेवानिधि –

श्री कर्मवीर बंसल,
साकेत, नई दिल्ली। 5,000/-

छात्रवृत्ति –

(संस्थानीय कम्प्यूटर छात्रों के लिए)

श्री कर्मवीर बंसल,
साकेत, नई दिल्ली। 6,000/-

हवन-यज्ञ–

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के कार्य-दिवस का शुभारम्भ प्रति सप्ताह के प्रथम दिन सत्संग-मन्दिर में हवन-यज्ञ से हुआ। सितम्बर, 2013 के द्वितीय रविवार को संस्थान के सत्संग-मन्दिर में परम पूज्य स्वामी सत्यानन्द जी महाराज के द्वारा चलाई गई परम्परानुसार उनके भक्तों के द्वारा अमृतवाणी का पाठ किया गया।

छात्रवृत्ति –

स्व. लाला हरकिशन लाल भल्ला की स्मृति में श्रीमती ममता सूरी (श्री धनीराम भल्ला की प्रपौत्री), जालन्धर द्वारा किसी सुपात्र छात्र को छात्रवृत्ति प्रदान करने हेतु रुपये 5,000/- की राशि भेजी गई।

वधाई –

संस्थान की कार्यकारिणी समिति की सदस्या डॉ. रेणू कपिला के पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला के पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन विभाग में प्रोफेसर के पद पर पदोन्नत होने पर संस्थान की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की ओर से हार्दिक बधाई दी जाती है।

शोक-समाचार –

आर्य प्रतिनिधि सभा की सार्वदेशिक न्याय-सभा के अध्यक्ष पद्मश्री वीरेशप्रताप चौधरी जी का बृहस्पतिवार, 5 सितम्बर, 2013 को 75 वर्ष की आयु में देहावसान हो गया। इस शोक के अवसर पर विभिन्न राजनैतिक पार्टियों के प्रमुख तथा दिल्ली के आसपास की अनेक आर्यसमाजों के सदस्य उपस्थित थे। आप आर्यसमाज की विभिन्न संस्थाओं के प्रमुख रहे। आप निराश्रितों के आश्रयदाता थे। आपके निधन से समाज को हुई क्षति कभी पूरी नहीं हो सकेगी। संस्थान की ओर से शोकाकुल परिवार के प्रति समवेदना प्रकट की जाती है।

www.thearyasamaj.org

—: आचार्य ऋषिराम प्रवचन :—

कर्मयोग

श्रीमती लता बंसल
एच.-41/ बी, एस. एफ. एस. फ्लेट्स, साकेत, नई दिल्ली-110017

गीता के कर्मयोग अथवा अनासक्ति योग का अर्थ है कि अपने कर्त्तव्य पथ पर नि:स्वार्थ भाव से, निष्काम कर्म द्वारा बढ़ते जाना। गीता में कर्म का अर्थ निष्काम कर्म है। यही निष्काम कर्म ही अनासक्ति योग है। ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। प्राय: लोग आश्चर्य करते हैं कि 'कर्म' शब्द में क्या विशेषता है? कर्म तो मनुष्य अपने सहज स्वभाव से निरन्तर कर रहा है। फिर दूसरा उसमें 'योग' शब्द जोड़ने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यदि आप चाहें तो आप को मिलेगा 'भगवद्गीता' में।

गीता में आद्योपांत कर्म की महत्ता का राग ही अलापा गया है। गीता के दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण जी कहते हैं —:

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग: कर्मसु कौशलम्॥

इस प्रकार कर्म कर कि तुझे वे चिपट न जाएं। इसके लिए गहराई में जाना होगा। एक कर्म वे हैं, जो चिपटते हैं तथा दूसरे कर्म ऐसे हैं, जो नहीं चिपटते। गीता में श्रीकृष्ण जी स्पष्ट कहते हैं कि मुझे कर्म नहीं चिपटते, क्योंकि मुझे फल की इच्छा नहीं। लेकिन मनुष्य संसार में कर्मों के फल से बन्धा है।

एक है निष्काम कर्म — जो पूर्ण क्रियाएं हैं।

दूसरे हैं अधूरे (सकाम) कर्म — जो चिपटते हैं; मनुष्य उनमें लटक रहा है।

जब मनुष्य आशा करता है, तो कर्म अधूरा ही रह जाता है। अन्तर केवल इतना है कि एक के साथ 'मैं' है तथा दूसरा 'मैं' से रहित। यदि थोड़ा-सा भी ज्ञान हो जाए कि वास्तविक कर्म ये हैं, तो वास्तव में परिवर्तन हो जाए। जो बात समझ में आ जाएगी, उसे करना सरल है, शेष कठिन है। समझने से उस कर्म में आनन्द भी मिश्रित हो जाता है।

स्वेट मार्डन ने भी कहा है — 'मनुष्य को अपने काम से इस प्रकार प्यार होना चाहिए कि उस काम को करते हुए उसे उत्तम आनन्द प्राप्त हो।'

वेद ने भी दो बातें बताई हैं — जिसकी बुद्धि समझदार है तथा मन पर जिसका वश है, वही अच्छे कर्म कर सकता है। भोग तो अवश्य करो, पर साथ में 'मैं' और 'मेरा' न करो। मेरा ध्येय है निरन्तर आगे बढ़ना। यदि मैं शांति, आनन्द व ज्ञान से नहीं बढ़ रहा हूँ तो समझो कर्म चिपट गए। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में स्पष्ट लिखा है —:

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमा:।

www.thearyasamaj.org

श्रीमती लता बंसल

काम करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करो। कैसे कर्म? केवल करने योग्य कर्म। इस प्रकार तुझ में कर्म लिप्त नहीं होंगे।

अब प्रश्न उठता है कि 'योग' शब्द का क्या अर्थ है ? योग का अर्थ है – जोड़ना। 'युज्' धातु से बना है। इसका वास्तविक अर्थ होगा अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ना, उसी में लीन हो जाना। तो फिर यहां तो 'योग' शब्द को कर्म के साथ जोड़ा है। क्या कर्म के साथ अपनी आत्मा को जोड़ दें? नहीं कर्म भी प्रभु अर्पण कर देवें, प्रत्येक कर्म इच्छा से करें। उसी की शक्ति से हो रहा है ऐसा जानें। मैं तो केवल निमित्तमात्र हूं, करने वाला तो एक मात्र वही ईश है, ऐसा भाव होना चाहिए।

गीता के अनुसार कर्म में कुशलता ही योग है। कर्म द्वारा उस ईश्वर की प्राप्ति करें; इसके लिए एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है ब्रदर लॉरैंस का। ये बर्तन साफ करते थे। इन्होंने अपनी जिज्ञासा को एक बड़े ही सुन्दर ढंग से चलाया। इनकी एक-एक गति में प्रभु-स्मरण व प्रभु-इच्छा का भाव था। जो भी काम करना, उसमें भगवद्-आश्रय को प्रेरित करना व प्रभु-इच्छा को ही सामने रखना। प्रतिपल वे यही कहते हैं- प्रभो, यदि तेरी इच्छा यह है, तो मैं यही करता हूं। एक-एक बर्तन साफ करने पर प्रभु से पूछता था- 'ठीक साफ हो गया न भगवन्; यदि नहीं, तो मैं एक बार फिर साफ कर देता हूँ।' भागवती इच्छा सार्थक व मेरी इच्छा निरर्थक, ऐसा भाव था उसमें। वर्षों की उपासना के पश्चात् उसे भगवान् का साक्षात्कार हुआ था।

साधना की अवस्था और थी तथा उपलब्धि की और। वह परम प्रभु की प्रेरणा के अधीन हो गया। बात कितनी ऊँची है व साधन कितना छोटा। ऐसे प्रभु की प्रेरणा को तो ज्ञानी लोग भी बड़ी कठिनता से ही पाते हैं। किन्तु इस काला अक्षर भैंस बराबर वाले व्यक्ति ने अपने कर्म के द्वारा व भावना के द्वारा उस प्रभु-प्रेरणा को पा लिया।

अब दूसरा प्रश्न उठता है कि कर्म कैसा हो ? गीता के तीसरे अध्याय में कर्म की बड़ी सुंदर व्याख्या की गई है। वहां 'कर्म' के विषय में जो शिक्षा दी गई है, उसका सार यह है-:

1. जो कर्म दूसरों के हित के लिए किए जाते हैं, वही यज्ञकर्म हैं। शेष सब कर्म बंधन में डालने वाले हैं।
2. मनुष्य कर्म किए बिना एक पल भी नहीं रह सकता। अपनी प्रकृति के वश हुआ वह नित्य कर्म करता है।
3. कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है।
4. जो कर्म प्रत्येक के लिए निश्चित है, उसे वही कर्म करना चाहिए। चाहे वह कर्म दूसरों की अपेक्षा उतना श्रेष्ठ न हो। अपना कर्त्तव्य करते हुए जीवन-यापन करने से शांति मिलती है, जबकि दूसरे का धर्म भयकारक है।

कर्म की मुख्यतया तीन अवस्थाएं हैं-:

1. कर्म   2. अकर्म   3. विकर्म अथवा निषिद्ध कर्म।

'कर्म' सदा क्रियारूप में हो रहे हैं। कर्म में किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। कुछ कर्म ऐसे भी हैं, जिनकी समाज की ओर से आज्ञा नहीं। ये निषिद्ध कर्म कहलाते हैं।

www.thearyasamaj.org

आचार्य ऋषिराम प्रवचन :– कर्मयोग

कर्म को ध्यान से अधिक महत्त्व दिया गया है। कारण यह हो सकता है कि एक मनुष्य योगी है, संन्यासी है, पांच-छः घण्टे की समाधि लगाना उसके लिए सहज कार्य है। किन्तु व्यवहार तथा कर्म एक ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा हम किसी व्यक्ति को पहचान सकते हैं। उसको किसी की इच्छा तो नहीं, क्रोध तो नहीं, मान-अपमान का ध्यान तो नहीं ? जब तक व्यवहार में समता नहीं, तब तक वह ऊपर नहीं उठ सकता। दु:ख-शोक व छोटापन जहां नहीं होगा, वहां करने योग्य कर्म होगा। सत्त्वगुण सात्त्विकता का प्रतीक है, वह वहां भी दु:ख है, निराशा है और मनुष्य को रसातल में ले जाने वाला 'मैं' भी वहां विद्यमान है। यह 'मैं' ही दु:ख-शोक व चिन्ता का कारण है। यदि आप इससे ऊपर उठना चाहते हैं तो कर्म करने की कला सीखिए।

कर्म की प्रधानता एवं महत्ता का वर्णन कहां तक किया जाये? इस 'कर्म' शब्द को हम शब्दों में नहीं बांध सकते। यह नदी की भांति निरन्तर आगे बढ़ने वाला है, यह प्रसिद्ध है कि–

अयं लोकः प्रियतमो देवानाम्॥

यह संसार देवताओं को भी प्रिय है। वे भी इस पृथ्वीतल पर आने को लालायित हैं। यह क्यों? भला, जिसे मोक्ष की प्राप्ति हो, वह संसार को चाहे? कितने आश्चर्य की बात है। पर नहीं, उसका कारण है कि एकमात्र यह पृथ्वीतल ही ऐसा स्थान है, जहां कर्म प्रधान है। यहीं रहकर मनुष्य कर्म कर सकता है तथा अपने जीवन को सफल बना सकता है। यही कारण है कि कर्म के महत्त्व को समझते हुए देवता लोग आना चाहते हैं।

कर्मों का विश्लेषण हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि – **गहना कर्मणो गतिः** ऐसा गीता में कहा गया है। कई बार नित्य-प्रति के व्यवहार में हम देखते हैं कि एक व्यक्ति निरन्तर अच्छे कर्म करता है, फिर भी वह दु:खी है। जितने उसके कर्म अच्छे हैं, उतनी ही उस पर विपत्तियां अधिक पड़ती हैं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि कुछ पूर्व जन्मों के कर्मों का फल है, जिसके कारण मनुष्य सुख-दु:ख भोगता है। वेद के नासदीय सूक्त में इस बात को भी बिल्कुल स्पष्ट रूप से कहा है–

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बंधुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ (ऋ. 10. 129. 4)

चूंकि पूर्वजन्म का किया हुआ जगदुत्पत्ति का बीज अर्थात् जीवों का कर्म विद्यमान था, इसलिए सृष्टि-उत्पत्ति के प्रारम्भ में परमेश्वर के मन में जगदुत्पत्ति की कामना पैदा हुई। दूसरे शब्दों में, यह जगत् प्रभु ने जीवों के कर्मों के फलस्वरूप बनाया है। इस प्रकार ज्ञानी लोगों ने मननशील बुद्धि से हृदय में विचार करके सद्रूप में विद्यमान जगत् के अर्थात् वर्तमान कार्यरूप में दिखाई देने वाले जगत् के बन्ध (सम्बन्ध) का कारणरूप मूल प्रकृति में ही जाना है।

गीता के दूसरे अध्याय में कर्मयोग का आरम्भ मात्र है। उसके 47वें श्लोक में कर्मयोग के विषय में चार बातें मुख्य रूप से बताई गई हैं–

1. प्रत्येक मनुष्य कर्म करने में ईश्वर की ओर से स्वतन्त्र है।
2. हमारा कर्ममात्र में अधिकार है, फल में नहीं। अच्छा-बुरा जैसा कर्म करेंगे, वैसा ही फल मिलेगा।

www.thearyasamaj.org

3. कर्मफल की इच्छा न करना।

4. निष्कर्म न हो जाना।

इसे कर्मयोग को चतु:सूत्री भी कह सकते हैं। तीसरे अध्याय में यज्ञकर्म की महत्ता बता कर चौथे अध्याय में उसकी प्राप्ति का साधन बताया है। यह साधन है कर्म व अकर्म का ज्ञान, जिसकी ऊपर विवेचना की जा चुकी है। अन्त में, कर्मयोग का फल परम शान्ति की प्राप्ति व बन्धनों से मुक्ति बताते हैं।

इस विशद विवेचना द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कर्म में समता व योग में समता दोनों ही बन्धन से मुक्ति का कारण हैं। योगी होने पर भी जो अपने कर्म में अर्थात् व्यवहार में समता नहीं ला सकता, वह बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकता। गीता के अनुसार बन्धनों से मुक्ति केवल जन्म-मरण के बन्धनों से छूटना नहीं, बल्कि सुख-दु:ख से ऊपर उठना ही वास्तविक मुक्ति है।

सम्पूर्ण कर्मयोग का उपदेश देकर अन्त में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नंति धनंजय॥

कर्मयोग का विषय यहीं समाप्त नहीं हो जाता। छठे अध्याय में भी इसकी थोड़ी-सी झलक मिलती है। बारहवें अध्याय में तो स्पष्ट कह दिया है कि -

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

कर्मफल का त्याग सब ज्ञानों में उत्तम है और यही निष्काम कर्मयोग कहलाता है। यही गीता का सबसे बड़ा सन्देश है। बहुत से लोगों में यह विचार घर कर गया है कि गीता पढ़ने से वैराग्य उत्पन्न होता है, किन्तु वास्तव में, उन्होंने गीता को भली-भांति समझा ही नहीं। पग-पग पर हमने देखा कि अर्जुन के हृदय में संशय उत्पन्न होता है, किन्तु श्रीकृष्ण जी साथ ही उसका समाधान कर देते हैं। जब-जब अर्जुन के चरण कायरता की ओर बढ़े, श्रीकृष्ण जी ने हाथ पकड़ कर उसे सहारा दिया तथा उसे उसका निर्दिष्ट मार्ग बताते हुए समझाया।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषते।
गतासूनगतासूँश्च नानुशोचंति पण्डिता:॥

यद्यपि स्थान-स्थान पर अर्जुन साधारण व्यक्ति के समान ही शंका प्रकट करते हैं, किन्तु अन्त में उन्होंने इस कर्मयोग को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया है-

नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देह: करिष्ये वचनं तव॥

क्या अर्जुन के इन शब्दों को पढ़ कर भी हम यह कहने की धृष्टता कर सकते हैं कि गीता हमें अकर्मण्य बनाती है ?

www.thearyasamaj.org

(संस्थान) सत्संग मन्दिर

वी. वी. आर. आई. सोसाईटी, होश्यारपुर (पंजाब) की ओर से प्रकाशक व मुद्रक
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल द्वारा वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट प्रैस, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर से छपवा कर, वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर-१४६ ०२१ (पंजाब) से २८-९-२०१३ को प्रकाशित।